विषय-सूची

भूमिका

आहार-निद्रा भय मैथुनंच समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मोहितेषामधिको विशेषो धर्मेणहीनः पशुभिः समानः ॥

मनुष्य व्यक्तितः एक निर्बल जंतु है। यदि इसका मिलान संसार के अन्य जंतुओं से किया जाय तो मालूम होगा कि यह अत्यंत दीन हीन और तुच्छ है। प्रकृति ने न तो सिंह, व्याघ्र आदि के समान इसके नख, दाढ़ आदि को ही दृढ़ बनाया है कि जिससे यह अन्य आक्रमणकारी जंतुओं का सामना कर के उन पर आघात कर सके और उन्हें परास्त कर उन पर विजय प्राप्त कर सके; और न हरिण आदि पशुओं के समान इस के पैरों में शीघ्र गति ही दी; और न कबूतर आदि पक्षियों के समान कंधों पर पर ही जमाया है जिससे यह भाग कर या उड़कर अपने शत्रुओं के आक्रमण से बच सके। यह स्वभाव से अत्यंत असहाय उत्पन्न किया गया है। पर प्रकृति माता ने अपने इस अनोखे पुत्र को वह अलौकिक दैवी बुद्धि और साहस प्रदान किया है जिसकी सहायता से यह आकाश में बादलों के ऊपर और पृथिवी और समुद्र के भीतर सुगमता से जा आ सकता है। यह अपने शब्दों को सैकड़ों कोस तक क्या, पृथिवी के एक छोर से दूसरे छोर तक

पहुँचा सकता है। बड़े बड़े आकाशभेदी पर्वत और अपार दुर्लंघ्य समुद्र इसकी गति का अवरोध नहीं कर सकते। यह वर्षों के मार्ग को दिनों में तै करता है और करोड़ों मन का बोझ पशुओं पर क्या, अग्नि, जल और विद्युत् आदि देवताओं के सिर पर लाद कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाता और पृथिवी के चराचर पर शासन करता है। क्या यह अचंभे की बात नहीं है कि इतना दुर्बल मनुष्य इतना प्रभावशाली बन जाय और समस्त भूमंडल पर अपना साम्राज्य स्थापन करे। नहीं, यह एक व्यक्ति के पुरुषार्थ का फल नहीं है, किंतु सारी मनुष्य जाति के देशकालाव्यवहित ज्ञान और संघ शक्ति तथा पारस्परिक सहानुभूति का परिणाम है।

मान लो कि संसार में कहीं एक ही मनुष्य होता, तो वह साधारण पशुओं से विशेष उत्कृष्ट अवस्था में न होता। न वह ज्ञान-विज्ञान ही में इतनी बढ़ चढ़ कर उन्नति कर सकता और न वह कला-कौशल और शील में इतना संपन्न होता। साधारण से साधारण बात ले लीजिए तो मालूम होगा कि कितने मनुष्यों के सम्मिलित ज्ञान और कर्म से उसकी उपलब्धि हुई है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य का परम पुरुषार्थ वही है जिसमें मनुष्य जाति की उन्नति हो और यही मनुष्य जीवन की उपयोगिता है।

संसार में हम लोग कर्म करने के लिये आए हैं। यहाँ हमें दो क्षेत्रों में काम करना पड़ता है—एक ज्ञान क्षेत्र में और

दूसरे कर्म क्षेत्र में। यहाँ हम अपने ही लिये काम नहीं करते, किंतु उस मनुष्य समाज के लिये काम करते हैं जिसके हम एक अंग हैं। यहाँ हमारे कर्मों की समाप्ति हमीं तक नहीं है, वरन् उसका प्रभाव भावी संतान पर अनेक वर्षों तक अव्यवहित रहता है। धर्मभीरुओं का कथन है कि कर्म का फल कर्ता ही को मिलता है और दूसरा नहीं भोगता, पर यह उनकी भूल है। ये बातें उस समय की हैं जब मनुष्य नवजात भोला भाला शिशु था। उस समय लोग उसे ईश्वर को हौवा सा बनाकर डरा देते थे और जो चाहते, उस सीधे सादे बच्चे से मनवा लेते थे। उस समय धर्म मनुष्य का कर्तव्य नहीं था, वरन् धर्म वह था जो उस नाम मात्र के हौवा को रुचे। उस समय की शिक्षा थी कि चाहे तुम्हारे लिये और तुम्हारे समाज के लिये कोई काम हितकर हो या अनिष्टकारक, यदि उससे उस कल्पित हौवे की प्रसन्नता होती है, तो वह कर्तव्य है और उसका त्यागना ही अनिष्टकर है। ऐसा करने से वह तुम्हें व्यक्तावस्था में नहीं, अव्यक्तावस्था में नरक की जलती हुई आग में झोंक देगा, जहाँ तुम पड़े पड़े असंख्य वर्षों तक जलते रहोगे। इस शिक्षा ने मनुष्य जाति से बड़े बड़े घोर अत्याचार कराए। संसार की सभी जातियों में उस कल्पित हौवे के लिये—मैं कल्पित इसलिये कहता हूँ कि वास्तव में ईश्वर की सत्ता नहीं है—याजकों ने उसकी कल्पना केवल अपना अर्थ साधने के लिये

भ्रमवश की है—मनुष्य तक का बलिदान होता रहा है और असभ्य जातियों में अब तक होता है। बड़े बड़े घोर विप्लव-कारी संग्राम, जिसे धर्मयुद्ध या जहाद कहते हैं, यूरोप और एशियाखंडों में इसी लिये हो चुके हैं। पर अब वह युग नहीं है। मनुष्य जाति अब युवावस्था को प्राप्त हो गई। विज्ञान ने उसकी आँखें खोल दीं हैं। वह सब बातें अपनी आँखों से देखने लगी है। अब उसे हौवे का डर नहीं। किन्तु धर्म—सच्चा धर्म, जिससे मनुष्य जाति का कल्याण है, वह धर्म नहीं जिससे ईश्वर प्रसन्न होता है—कर्म करने में प्रवृत्त करता है। यूरोप से ईसाई पादरी इसी सच्चे धर्म के प्रचार से भयभीत होकर भाग रहे हैं और अन्य देशों में भोले भाले लोगों को ठगते फिरते हैं। एशिया में भी भगवान् कृष्णचन्द्र और गौतम बुद्ध के पवित्र उपदेशों के होते हुए भी–यद्यपि विशेष देशों में ईश्वर का नाम लेकर डरानेवालों का ही साम्राज्य है, पर विद्या का प्रकाश ज्यों ज्यों बढ़ता जा रहा है, त्यों त्यों अंधकार के समान उस जगत्व्यापी अंधकार का नाश होता जा रहा है। कितने लोग विज्ञान की मशाल हाथ में लेकर अंधकार को ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं! पर अब वह समय गया। संसार को अब ईश्वर और ईश्वरी धर्म की आवश्यकता नहीं है। वह अब बच्चा नहीं है कि ईश्वर की लठिया पकड़कर खड़ा हो। अब वह धर्म तो करेगा, पर ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये नहीं और न स्वर्ग के लिये। किंतु मनुष्य समाज के हित

के लिये और अपना कर्तव्य समझकर। बच्चे को लोग तभी तक 'हौवा' का नाम लेकर डराते हैं, जब तक वह अपने कर्तव्य और हानिलाभ को नहीं समझता। पर जब वह बड़ा हो जाता है और अपनी भलाई बुराई समझने लगता है, तब उसे कोई डराने नहीं आता और न उसे डराकर कर्म या त्याग में कोई प्रवृत्त ही कर सकता है।

हमें यहाँ यह निर्णय करने का अवकाश नहीं है कि वास्तव में ईश्वर है या नहीं, और कर्मों का फल इस लोक के अतिरिक्त स्वर्ग, नरक, प्रलय के दिन या पुनर्जन्मादि में मिलता है या नहीं, और ऐसी परोक्ष बातों की कहीं सत्ता है या नहीं। हम यहाँ इस बात को विचारना चाहते हैं कि धर्म ईश्वर की मध्यस्थता के बिना हो सकता है या नहीं। हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि हिंदू धर्म ब्रह्मवाद है और अन्य धर्मों के समान यह ईश्वरवाद या खुदा-वाद नहीं है। भगवान् मनुजी ने धर्म के दस लक्षण निम्नलिखित श्लोक में कहा है—

धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिंद्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

धृति, क्षमा, दम, स्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और क्रोध का त्याग, ये धर्म के दस लक्षण हैं। इन दस लक्षणों में कोई ऐसा शब्द नहीं है जिससे यह स्पष्ट होता हो कि अन्य धर्मों के समान ईश्वर का मानना भी धर्म का एक अंग क्या प्रधान अंग हो। हिंदूधर्म, कर्त्तव्य का विषय

है, अन्य धर्मों के समान विश्वास का विषय नहीं। यह प्राचीन ऋषि मुनियों की शिक्षा के आधार पर स्थित है और किसी निज व्यक्ति या पुरुषविशेष की आज्ञा पर नहीं। इस धर्म के ऋषियों का भिन्न भिन्न काल में स्वतंत्रतापूर्वक मुक्तकंठ होकर अपना मत प्रकाश करना इस विषय को सूचित करता है कि यह धर्म परम उदार है और इसकी नींव स्वतंत्रता और विवेक की दृढ़ भूमि पर है। अस्तु।

अब प्रश्न यह है कि कर्म क्या है? धर्म और अधर्म किसे कहते हैं? यदि कोई मनुष्य किसी निर्जन मरु भूमि में छोड़ दिया जाय जहाँ उसके सिवा कोई दूसरा प्राणी ऐसा न हो जिस पर उसके कर्मों का प्रभाव पड़ सके तो, वह बुद्धिमान् या निर्बुद्धि भले ही हो, पर वह धर्मात्मा या अधर्मी कदापि नहीं हो सकता। उसके कर्म उसके लिये लाभदायक या हानिकारक भले ही हों, पर वे धर्म या अधर्म नहीं हो सकते और न वे अच्छे या बुरे कहे जा सकते हैं। यदि कोई निर्जन स्थान पर जहाँ कोई सुननेवाला न हो, बैठ कर वीणा बजावे तो हम उसके वीणा बजाने को भला या बुरा नहीं कह सकते। पर ज्यों ही उसकी वीणा का नाद किसी अन्य पुरुष की श्रोत्रेंद्रिय में पहुँचकर श्रोता के मन को मुग्ध या खिन्न करने लगे, त्यों ही उसका बजाना अच्छा या बुरा कहे जाने योग्य हो जायगा और वह उस प्रभाव के अनुसार, जो श्रोता पर पड़ा, भला या बुरा कहलावेगा। उसका कर्म

व्यावहारिक कर्म हो जायगा और आचारशास्त्र के अनुसार कर्म ठहरेगा।

आचारशास्त्र उस शास्त्र का नाम है जिसमें सामाजिक व्यवहार कर्मों पर विचार किया गया हो। किसी मनुष्य का ऐसा कर्म, जिसे वह अपने को किसी समाजका एक व्यक्ति विशेष मानकर करे और जिसका प्रभाव उस समाज के अन्य व्यक्तियों पर पड़े, आचारशास्त्रानुसार कर्म है; और ऐसा ही कर्म उस लाभालाभ के विचार से जो उससे समाज के दूसरे व्यक्तियों को पहुँचता है, धर्म या अधर्म, शुभ या अशुभ कहा जा सकता है। आचारशास्त्र का मुख्य उद्देश्य ऐसे कर्मों के नियमों का पता लगाना है। इस शास्त्र के अनु-सार केवल व्यावहारिक कर्म ही कर्म है।

मनुष्य का अंतःकरण भी एक समुद्र है जिसमें नाना प्रकार की तरंगें उठा करती हैं। कभी वह क्रुद्ध होता है, कभी भयभीत होता है, कभी आनंदित होता है, कभी दुःखी होता है, कभी कुछ विचारता है, कभी किसी की इच्छा करता है, कभी कुछ करने का संकल्प करता है इत्यादि। यह सब उसके मानस समुद्र की तरंगों का प्रभाव है। एक मुहूर्त भी ऐसा नहीं जाता जिसमें उसके अंतःकरण में कोई न कोई तरंग न उठती हो। इसी लिये बुद्धिमानों ने मन को चंचल माना है। विद्वानों ने मन की तरंगों के तीन भेद किए हैं—वैकारिक; जैसे हर्ष, क्रोध, दया, भय, सुख, दुःख इत्यादि; वैभाषिक,जैसे, सोचना,

विचारना, इच्छा इत्यादि और सांकल्पिक जैसे किसी क्रिया के करने का संकल्प। यद्यपि हमारे शरीर की अनेक क्रियाएँ, जैसे श्वास प्रश्वास, नाड़ियों में रक्त की गति, हृदय, फुसफुस आदि की क्रियाएँ, इत्यादि ऐसी हैं जिनका कोई संबंध हमारी मानसिक तरंगों या वृत्तियों से नहीं है, पर हमारे व्यावहारिक कर्मों में इन तीनों प्रकार की वृत्तियाँ कारण होती हैं। सब से पहले हमारे अंतःकरण पर वैकारिक भावों का किसी कारण से उदय होता है। फिर हम तदनुसार सोचते हैं और अपने अभीष्ट की सिद्धि का मार्ग ढूँढ़ते हैं और इच्छा करते हैं। इसके साथ ही हम उसके करने का संकल्प करते हैं, तब कोई काम करते हैं। हमारे अंतःकरण में सहस्रों भाव नित्य प्रति उदय होते रहते हैं; पर कार्य्य में परिणत वे ही होते हैं जो बलवान् होते हैं, अन्य भूठे फूल की भाँति उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं। केवल अत्यंत बलवती इच्छा ही कार्य्य में परिणत होती है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—अच्छे और बुरे या शुभ और अशुभ। प्रत्येक कर्म करने का कुछ उद्देश्य होता है। अब यदि उस कर्म से हमारा वह उद्देश्य पूरा हो तो वह काम अच्छा या शुभ है, और यदि उससे वह उद्देश्य पूरा नहीं होता, तो वह बुरा या अशुभ है। हम उस वीणा को अच्छी वीणा कहते हैं जिससे मधुर स्वर निकलता है; उस लकड़ी को अच्छी लकड़ी कहते हैं जो अच्छी तरह जलती है; उस

लालटेन को अच्छी लालटेन कहते हैं जिसका प्रकाश अच्छा होता है। पर यदि उनसे वे उद्देश्य पूरे नहीं होते तो हम उन्हें बुरा कहते हैं। सारांश यह कि पूर्णता ही अच्छेपन की पहचान है और अपूर्णता बुराई की। जो हमारे उद्देश्य को पूरा करे, वह अच्छा और जो न पूरा करे वह बुरा है।

अब विचारणीय यह है कि व्यवहार या कर्म का उद्देश्य क्या है? व्यवहार का उद्देश्य है समाज की रक्षा और उसे दृढ़ बनाना; और समाज का उद्देश्य है परस्पर सहानुभूति और सहायता करना। हम ऊपर कह आए हैं कि मनुष्य अत्यंत दीन हीन होने पर भी अपनी बुद्धि के बल से समस्त जड़ चेतन पर शासन करता है। पर बुद्धि और ज्ञान रहते हुए भी अकेला एक व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता है, यदि उसकी जाति के दूसरे मनुष्य उसके सहायक न हों और उसे सहायता प्रदान न करें। सर्ग से ही मनुष्य को अपनी जाति के अन्य पुरुषों की सहायता की आवश्यकता है। उसकी सारी सफलता उसके अन्य सजातीयों की सहायता पर अवलंबित है। संसार में जिन मानव जातियों में जितना ही अधिक पारस्परिक साहाय्य है, वे उतनी ही सभ्य मानी जाती हैं। मनुष्य जितने ही सभ्य होते जाते हैं, उतना ही उन्हें दूसरों की सहायता पर अवलंबन करना पड़ता है। मनुष्य के कुछ कर्म और व्यवहार ऐसे हैं जिनसे समाज का बंधन दृढ़ होता है और वह दूसरों के साथ समाज में सुखपूर्वक रह सकता है।

लोग हर्षपूर्वक उसकी सहायता करते हैं और उसके साथ सहानुभूति रखते हैं। उसके कुछ ऐसे कर्म या व्यवहार भी हैं जिनसे समाज का बंधन शिथिल पड़ जाता है, लोग उसके साथ सहानुभूति नहीं रखते, न उसे हर्षपूर्वक सहायता प्रदान करते हैं। इसी से समाज में उसका रहना कठिन हो जाता है और उसका जीवन दुःखमय। इन्हीं दोनों प्रकार के कर्मों या व्यवहारों का नाम शुभ और अशुभ, धर्म और अधर्म है। धर्म मनुष्यों के सामाजिक बंधन को दृढ़ करता है और अधर्म उसे शिथिल। धर्म से मनुष्य समाज में सहानुभूति उत्पन्न होती है और प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की सहायता करता है; और अधर्म से सहानुभूति जाती रहती है और उनमें विभेद उत्पन्न हो जाता है।

कर्मों के—चाहे वे धर्म हो या अधर्म—दो भेद होते हैं—एक गतानुगतिक या प्रचलित है, दूसरा वास्तविक गतानुगतिक कर्म वह व्यवहार है जिसे समाज में धर्म या अधर्म मानते हों और वास्तविक कर्म वह व्यवहार है जो वास्तव में धर्म या अधर्म हो। यह संभव है कि एक ही कर्म गतानुगतिक अवस्था में धर्म हो, पर वास्तविक रूप में वह अधर्म हो अथवा गतानुगतिक रूप में अधर्म और वास्तविक रूप में धर्म हो। यह भी संभव है कि कोई कर्म दोनों रूप में समान ही धर्म या अधर्म हो। इन दोनों विभेदों को न जानकर ही लोग भ्रमवश यह समझ बैठते हैं कि धर्म केवल सदाचार मात्र है

जिसका प्रचार किसी देश की सीमा मात्र के भीतर होता है। एक ही देश, एक ही आचार, जो एक काल में धर्म या कालांतर में अधर्म हो जाता है। यही नहीं, किन्तु कोई कर्म जो एक काल में गतानुगतिक रूप में धर्म होता है, दूसरे काल में अधर्म ठहरता है; या वास्तविक रूप में जो एक काल में धर्म या अधर्म होता है, कालांतर में अधर्म या धर्म हो जाता है। अथवा एक काम जो किसी समय गतानुगतिक और वास्तविक रूपों में धर्म हो, कालांतर में गतानुगतिक में धर्म बना रहे और वास्तविक रूप में अधर्म हो जाय। सारांश यह है कि देशकाल के अनुसार उनमें परिवर्तन हुआ करता है।

किसी समाज के संघटन और उस पारस्परिक सहकारिता के अनुसार ही जिसकी आवश्यकता उस समाज को हो, कोई कर्म भला या बुरा हो सकता है। समाज का संघटन सहकारिता के भेद से दो प्रकार का होता है—एक एकतंत्र और दूसरा सर्वतंत्र। एकतंत्र समाज संघटन की आवश्यकता उस समाज की विरोधियों से रक्षा करने और अन्य समाजों को अपने अधीनता में लाने के लिये पड़ती है। इसमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति को एक प्रधान की अधीनता में रहकर उसकी इच्छा के अनुसार काम करना पड़ता है। पूर्व काल में प्रायः सभी जातियों को या तो आक्रमणकारी जातियों से अपनी रक्षा करनी पड़ती थी अथवा अन्य जातियों पर विजय प्राप्त

करनी पड़ती थी। इसी लिये उस समय प्रायः सभी जातियों के समाज का संघटन एकतंत्र ही था अथवा उन्हें विवश हो अपने समाज का संघटन ऐसा रखना पड़ा था। दूसरे सर्वतंत्र समाज संघटन की आवश्यकता उस समय पड़ती है जब किसी जाति को अपनी रक्षा और दूसरी जातियों को पराजित करने के लिये लड़ना झगड़ना नहीं रहता; देश में शांति स्थापित हो जाती है और सब को मिलकर विद्या विज्ञान, कला-कौशल की वृद्धि करनी रहती है। इसमें समाज का प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र रहता है और मिल कर समाज की आवश्यक न्यूनताओं को पूरा करता है। यद्यपि वह दोनों परस्पर बहुत से अंशों में विभिन्न होते हैं, पर उन दोनों का मुख्य उद्देश्य समाज को दृढ़ करना है। दोनों में वे काम या व्यवहार जिनसे समाज के बंधन दृढ़ होते हैं और उनके उद्देश्य की पूर्ति में सफलता होती है, शुभकर्म माने जाते हैं; और जिनमें समाज के बंधन शिथिल होते हैं और उनके उद्देश्य की पूर्ति में बाधा पड़ती है वे अशुभ कर्म होते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि पहले मनुष्य जाति की आवश्यकताएँ परिमित और अल्प रहती हैं, ऐसी दशा में उनको केवल अपनी रक्षा की ही चिंता विशेष रहती है जिसके लिये उन्हें परस्पर सहायता की आवश्यकता पड़ती है। उनके धर्मशास्त्र के नियम सीधे होते हैं और बहुत थोड़े व्यवहारिक कर्म होते हैं जो धर्म या अधर्म पदवाच्य ठहराए जा

सकते हैं। उनका स्वार्थ एकतंत्र समाज के संरक्षणार्थ होता है। ज्यों ज्यों उनकी सभ्यता का विकाश होता जाता है, उनकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं, त्यों त्यों उन्हें अपने धर्मशास्त्र के नियमों में उत्सर्ग और अपवाद बढ़ाकर उसे अधिक पेचदार करना पड़ता है और उसमें उन्हें समाज के आवांतरिक संघटनों की रक्षा के लिये नियम निर्धारण करना पड़ता है। उनको पारस्परिक साहाय्य की विशेष आवश्यकता पड़ती जाती है और उनके समाज का संघटन एकतंत्र हो जाता है। उनका स्वार्थ और परमार्थ एकीभूत हो जाता है और आत्मरक्षा के समान ही उन्हें समाज रक्षा का भी यत्न करना पड़ता है। उसके प्रत्येक जन के लिये यह परमावश्यक होता है कि वह स्वार्थ-त्याग कर ऐसा कर्म करे जिससे पारस्परिक सहानुभूति और साहाय्य समाज के जनों में बढ़ते जायँ और उनका पारस्परिक प्रेम, जो समाज का जीवन है, दिनोदिन बढ़ता जाय और समाज का बंधन दृढ़ रहे। यही मूल तत्व है जिस पर समाज का जीवन निर्भर है।

धर्मशास्त्रों के वाक्य दो प्रकार के होते हैं, एक विधि, दूसरे निषेध। ऐसे कर्मों को जिनकी समाज की रक्षा के लिये आवश्यकता है, और जिनसे समाज में सहानुभूति और साहाय्य बढ़ने की संभावना है, विधि वाक्यों द्वारा कर्तव्य ठहराया जाता है; और ऐसे कर्मों का करना जिनसे समाज में वैर विरोध फैलने की संभावना होती है और उसके बंधन को

शिथिल करनेवाले होते हैं तथा जिनसे समाज में सहानुभूति और साहाय्य की न्यूनता होती है, निषेध वाक्यों द्वारा निषिद्ध या त्याज्य ठहराया जाता है। विधिविहित कर्मों के त्याग और निषिद्ध कर्मों के करने में शास्त्रप्रायश्चित्त या दंडविधान करते हैं। सारांश यह है कि शास्त्रों या विधानों द्वारा अधर्म को रोका जाता है और धर्म के लिये उत्तेजना दी जाती है।

अब विचारणीय यह है कि शास्त्रों में ऐसे विधानों की आवश्यकता क्यों पड़ती है जिनके द्वारा समाज के लोगों को धर्म करने में उत्सुक किया जाता है और अधर्म से रोका जाता है? क्या इतनी सभ्य दशा में भी मनुष्यों को विधि और निषेध द्वारा धर्म में प्रवृत्त करने और अधर्म से निवृत्त करने की आवश्यकता है? क्या इस युग में भी असभ्यता का अंश शेष रह गया है? इसका उत्तर सिवा इसके दूसरा नहीं हो सकता कि मनुष्य में, यद्यपि वह दिनों दिन सभ्य होता जाता है फिर भी, दोनों भाव विद्यमान हैं। इसी लिये जब से इसमें सामाजिक जीवन का संचार हुआ, तभी से इसके लिये विधिनिषेधात्मक शास्त्रों की आवश्यकता पड़ी और सदा रहेगी। पूर्व युगों में उसके ज्ञान के लिये भ्रमात्मक शास्त्रकारों को स्वर्गादि सुखों के प्रलोभनों और नरकादि यातनाओं के भ्रष्ट निदर्शन द्वारा उसे धर्म में प्रवृत्त और अधर्म से निवृत्त करने की आवश्यकता प्रतीत हुई और राजाओं को दंडविधान करने की आवश्यकता पड़ी। इसमें

सदा स्वार्थ और परार्थ या आसुरी और दैवी सम्पत्ति की सत्ता चली आती है।

अब उन शक्तियों या कारणों पर भी दृष्टि डालनी चाहिए जिनसे प्रेरित होकर कोई धर्म में प्रवृत्त होता है अथवा शास्त्रों के नियमों का पालन करता है। यह दो प्रकार के हैं। एक आध्यात्मिक और दूसरा परात्मिक जिसे परा और अपरा कहते हैं। आध्यात्मिक कारण या अपरा से हमारा अभिप्राय उस प्रेरणा से है जो मनुष्य को उस शक्ति के द्वारा होती है जो स्वयं उसकी आत्मा में विद्यमान है। जैसे, मनुष्य में इस भाव का होना कि जैसे मुझे दुःख होता है, वैसे दूसरे को भी दुःख पहुँचता है। यह दैवी प्रेरणा है। यदि यह भाव मनुष्य में सदा जाग्रत रहे तो उससे कोई अधर्म हो ही नहीं सकता। ऐसे पुरुषरत्न को धर्म में प्रवृत्त करने के लिये अन्य शक्ति की आवश्यकता नहीं है। इसका मूल सूत्र "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" है। पर यह भाव सब में सर्वथा होना असंभव है। अतः उनके लिये परात्मिक या परकृत प्रेरणा की आवश्यकता है। इसे परा भी कहते हैं। अपरा शक्ति का पूर्ण आविर्भाव न होने ही की दशा में परा की आवश्यकता पड़ा करती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य वाह्य उपाकरणों द्वारा विधि और निषेध के पालन करने के लिये बाध्य किया जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य यह होता है कि या तो अपराधी अपना आचार सुधारे अथवा ऐसा आचरण कर ही न सके। आंच-

रण सुधारने के लिये इस आवश्यकता की इच्छा को जिससे वह प्रेरित होकर कोई अनुचित कार्य्य करता है, परिवर्तन करके उसमें ऐसी इच्छा उत्पन्न की जाय कि जिससे वह धर्म में प्रवृत्त हो। इसके लिये कि वह अपराध करे ही नहीं, उसके लिये दंड विधान करना पड़ता है। ये दो प्रकार के होते हैं- सामान्य और विशेष अथवा अनेकांतिक और एकांतिक। सामान्य या अनेकांतिक उपाकरण वह उपाकरण है जो समाज की सम्मिलित शक्ति द्वारा सम्पन्न होता है; जैसे, धर्म-शास्त्र, धर्म सभाएँ, सेना, न्यायाधीश, कारागार, शूली इत्यादि; विशेष का एकांतिक उपाकरण व्यक्ति विशेष या समाज के व्यष्टियों द्वारा; जैसे, कुल, सभा, कार्य्यालयादि; जिन से मिल-कर समाज की समष्टि बनी है, सम्पन्न होते हैं।

किसी व्यक्ति विशेष की चेष्टाओं का अवरोध करना या नियमित बनाना दो ढंग से हो सकता है। पहले उसके उद्देश और इच्छा जो क्रिया की अनन्य हेतु हैं, परिवर्त्तित कर दी जायँ और दूसरे उसका ऐसा आचरण कर कुछ काल के लिये अथवा सर्वथा के लिये किसी भौतिक बल द्वारा रोक दिया जाय। मान लो कि एक जाति के लोग किसी व्यक्ति विशेष के उद्देश्य और इच्छाओं को परिवर्त्तन करना चाहते हैं, तो वे उसके लिये ऐसे दण्ड विधान करेंगे जिसका भय उसकी उस इच्छा से प्रबल हो जिससे प्रेरित होकर वह वैसा करता है। इसका परिणाम यह होगा कि लोग वैसा करना भविष्य

में त्याग देंगे। ये दण्ड अर्थदण्ड और शरीरदण्ड हो सकते हैं। यदि उसी का अवरोध व्यक्ति विशेष करना चाहे तो यद्यपि उसके नियम यही है कि उस इच्छा को किसी प्रबल इच्छा द्वारा दवाया जाय, तो भी उसके प्रकार में आता है। उसके लिये वे अपराधी पर दाँत पीसते हैं, असंतोष प्रकट करते हैं, गालियाँ देते हैं और मार बैठते हैं। यदि इतने से काम नहीं चलता है तो उससे संवंध त्याग किया जाता है, उसका समाज से वहिष्कार होता है। यह संवंध त्याग और वहिष्कार अनेकांतिक दण्ड प्राणदण्ड के समान ही है।

अधर्म और सामाजिक सहानुभूति दोनों एक साथ नहीं रह सकतीं; जैसे, संखिया खाने पर जीवन का रहना असंभव है। चाहे संखिया की मात्रा को शरीर से निकालो अथवा मरना स्वीकार करो। यदि मात्रा इतनी अधिक नहीं है कि जिसका परिणाम मरण हो, तो भी यह स्मरण रखो कि विष की मात्रा चाहे जितनी न्यून क्यों न हो, निष्फल नहीं जायगी। वह स्वास्थ्य को नष्ट करेगी और तुम्हारे जीवन के काल को घटा देगी। ठीक इसी प्रकार अधर्म है। यह समाज को नष्ट भ्रष्ट करता है और उसे निर्जीव और बलहीन वना देता है। मनुष्य समाज को मर्य्यादाबद्ध करनेवाला नियम ठीक वैसे ही है जैसे वाजा बजानेवालों का है। यदि उन बजानेवालों में एक व्यक्ति भी बेसुरा बजाता है, तो राग में भंग पड़ता है; इसलिये उन लोगों के लिये यह आवश्यक है कि या तो वे

ऐसा प्रबंध करें जिससे वह बेसुरा न बजावे अथवा सब के सब बाजा बजाने के काम को परित्याग कर समाज को भंग कर दें। इसी प्रकार यदि समाज में एक व्यक्ति भी समाज के धर्म को परित्याग करता या अधर्म का आचरण करता है, तो उसका आचरण कितना ही कम प्रभावोत्पादक क्यों न हो, समाज के संघटन में घुन का काम करने लगता है। समाज में सहस्रों मनुष्य पारस्परिक सहानुभूति और साहाय्य के उद्देश से सम्मिलित होते हैं और उन्हीं की समष्टि का नाम समाज कहलाता है। समाज और उसके व्यक्तियों में अगांगि संबंध होता है। यदि समाज को स्थायी बनाना है तो यह परमावश्यक है कि उसका प्रत्येक व्यक्ति ऐसा आचरण करे जिससे समाज का बंधन दिन प्रति दिन दृढ़ होता जाय। ऐसे नियम, जिनसे समाजबंधन दृढ़ और कल्पस्थायी होता है जिसका पालन करना समाज की रक्षा के प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है, विधि कहलाते हैं; और वे नियम जिनके अभाव से लोग उन विधियों का पालन करते हैं, विधान कहलाते हैं। इस प्रकार के विधि और विधायक वाक्यों के संग्रह का नाम धर्मशास्त्र है, चाहे उसका संग्रह समाज के किसी मान्य व्यक्ति या प्रतिनिधि या राजा या अन्य व्यक्ति द्वारा हुआ हो।

इन्हीं विधि और निषेधात्मक तथा विधायक वाक्यों द्वारा समाज की स्थिति की रक्षा होती है। यही संसार की स्थिति का हेतु है। इसी का नाम धर्म है। यदि आप इसकी रक्षा

करेंगे तो यह आपकी भी रक्षा करेगा; यदि इसका विघात हुआ तो बस आपका नाश ध्रुव है। मनु भगवान् ने कहा है—

धर्म एको हतोहंति धर्मो रक्षति रक्षितः।

तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो वधोवधीत्।

धर्म के रक्षापूर्वक संसार में अभ्युदय प्राप्त करना ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। इसी विषय में कुछ साधारण उपायों का वर्णन इस छोटी सी पुस्तक में किया गया है। अंग्रेजी भाषा में इस विषय के अनेक ग्रंथ हैं और हमारे धर्म ग्रंथों में एतद्विषयक अनेक वाक्य हैं जिनसे मनुष्य अपने दोनों लोक सुधार सकता है; पर हिंदी भाषा में ऐसे ग्रंथों का नितांत अभाव सा है। हमारे देश के प्रायः सब युवक अंग्रेजी और संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ हैं और वे लोग अंग्रेजी और संस्कृत के ग्रंथों से लाभ नहीं उठा सकते। देश की अवस्था परिवर्तित हो गई है। प्राचीन काल की बात तो जाने दीजिए, अभी आज से तीस चालीस वर्ष पूर्व लोग कथा पुराण सुनते थे जिससे लोगों को अनेकानेक उपदेश मिलते थे। लोगों की धर्म पर श्रद्धा थी और लोग धर्मभीरू थे। लोग सदाचारी उदार और दयालु थे। वे लोग स्वयं दुःख सहकर धर्मानुष्ठान करते थे। मिथ्या भाषण और छल कपट का उनमें लेशमात्र भी न था। वे धर्म को अनुपपत्तिक मानते थे।

अब देश की अवस्था बदल गई है। समय के हेर फेर से आजकल के युवकों की श्रद्धा धर्म से उठती चली जाती

है। वे बात बात पर तर्क करने पर उद्यत हो जाते हैं। यद्यपि तर्कशास्त्र एक श्रेष्ठ शास्त्र है और यदि उसके नियमों को काम में लाया जाय तो जिज्ञासु सुगमता से सत्यासत्य का निर्णय कर सकता है, पर धर्म में बहुधा तर्कबुद्धि अच्छी नहीं होती। इसी से आजकल परस्पर खंडन मंडन करके एक धर्मवाले दूसरे धर्मवालों के रक्तपिपासु बन रहे हैं जिससे मनुष्य जाति की उन्नति में बाधा पड़ रही है। संसार में कोई ऐसा धर्म नहीं जो तर्क के सामने स्थिर रह सकता हो। तर्क शस्त्रवत् है उसका प्रयोग भ्रम और अज्ञान के छेदन के लिये है, न कि कर्म के छेदन के लिये। परम स्वतंत्र भगवान् कृष्णचंद्र गीता में कर्मानुष्ठान में लोगों को प्रवृत्त करने के लिये अपनी कर्मपरायणता के विषय में कहते हैं—

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्य्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्तास्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

विगत वर्ष लबक रचित जीवन की उपयोगिता (Lubback's Uses of Life) नामक ग्रंथ देखने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह ग्रंथ मैट्रिकुलेशन शिक्षा के स्वाध्याय ग्रंथों में है। यह ग्रंथ मुझे इतना रुचा कि मैंने उसी के ढंग पर दो चार लेख लिखे जिनमें से 'मानवजीवन और पुरुषार्थ' तथा 'चातुरी या ढंग' शीर्ष दो लेख सरस्वती सन् १९१७ में निकल चुके हैं। पीछे मैंने शेष विषयों पर

लेख लिख कर इस लेखमाला को समाप्त किया। इस छोटी सी पुस्तक में मैंने मनुष्यजीवन के उपयोगी मितव्यय, स्वास्थ्य और विद्या आदि के अतिरिक्त धर्म, ज्ञान, मोक्ष और आनंद विषयों पर छोटे छोटे निबंध अंत में लिखे हैं जो आजकल के युवकों के लिये अत्यंत उपयोगी हैं। इनमें इस सोपपत्तिक युग के अनुसार ही इन विषयों पर विचार किया गया है और अनेक स्थलों पर दार्शनिक विचार समाविष्ट किया गया है। इस लेखमाला का मुख्य उद्देश्य नवयुवकों को धर्म में प्रवृत्त करना है जिससे वे दूसरों को बिना कुछ हानि पहुँचाए स्वार्थ साध सकें जिससे उनका और संसार दोनों का कल्याण हो। यदि यह पुस्तक अपने उस उद्देश्य को जिसके लिये यह लिखी गई, अंश मात्र भी पूरा करने में सहायक होगी, तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

शांतिकुटी, धूपचंड़ी।
२२ फरवरी सन् १९१७.

जगन्मोहन वर्म्मा।

पुरुषार्थ

पहला परिच्छेद

मानव जीवन और पुरुषार्थ

लोके पशुश्च मूर्खश्च निर्विवेकमती समौ।

संसार में जीवन से बढ़कर कोई बहुमूल्य और दुर्लभ पदार्थ नहीं है। जीवन के होने ही से मनुष्य सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये, जो उसका एक मात्र पुरुषार्थ है, प्रयत्न करता है। सभी प्राणियों की यह प्रबल इच्छा रहती है कि हम दीर्घायु हों। यह बात सब लोग जानते हैं कि संसार की सारी संपत्ति खर्च करने पर भी कोई किसी की आयु को एक पल भी नहीं बढ़ा सकता॥ जब हम इस पर दृष्टिपात करते हैं कि इतना बहुमूल्य पदार्थ पाकर भी मनुष्य उसको कहाँ तक उपयोगी बनाता है, अपने और पराए हित के लिये उसमें कितना काम करता है, तो हम आश्चर्य्य में डूब जाते और

अवाक् हो जाते हैं। इतने बहुमूल्य पदार्थ का, जिसकी तुलना सारे संसार की संपत्ति और ऐश्वर्य्य भी नहीं कर सकता, जान बूझकर इस प्रकार दुरुपयोग करना मानों वह एक ऐसी वस्तु है जो उन्हें पानी के भाव बिना मूल्य मिलती है! फिर भी गर्व यह कि हम संसार में सर्वश्रेष्ठ हैं!

हमने कितनों को यह कहते सुना है कि मनुष्य अपने परिमित जीवन में क्या क्या करे। उसे सहस्रों काम हैं; किसे करे, किसे न करे। ऐसे लोग जीवन भर समय की तंगी का रोना रोया करते हैं और हृदय की दुर्बलता के कारण वे सिवा अपना पेट पालने के कुछ नहीं कर सकते।

कितने लोगों का सिद्धांत है कि सुख दुःख और सफलता विफलता दैव या भाग्य के अधीन है। वे कहा करते हैं कि मनुष्य कुछ नहीं कर सकता; वह अपने भाग्य या दैव के हाथ का एक खिलौना है। भाग्य उसे जैसा चाहता, वैसा नाच नचाता है। यदि उसके भाग्य में सुख और सफलता बदी है, तो उसे सुख और सफलता मिलती है। यदि उसके भाग्य में दुःख और अकृत-कार्य्यता है, तो वह संसार में दुःख और अकृतकार्य्यता का भागी होता है। ऐसे लोग परम साहसहीन और आलसी होते हैं, और अपना जीवन निठल्लुओं की तरह व्यतीत करते हैं। ऐसे लोग आज ही कल नहीं, किंतु हमारे देश के दुर्भाग्य-वश पुराने समय से होते चले आए हैं। ऐसे महात्माओं का सिद्धांत था—

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतानिविसृज्यंते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥

ऐसे पुरुषार्थहीनों ने न केवल अपना ही हानि की है, किन्तु देश के इन शत्रुओं से समाज, देश और संसार को भी बड़ी हानि पहुँची है।

सुख और सफलता न भाग्यकृत है और न कालकृत; वह हमारे पुरुषार्थ का ही फल है। मनुष्य को अधिकार है कि चाहे वह अपने जीवन को सुखमय बनावे, चाहे उसे दुःखमय। चाहे मनुष्य सफलता प्राप्त करे या अकृतकार्य्य हो, वह स्वयं अपना विधाता है। कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनः शत्रुरात्मैवहितुरात्मनः॥

मनुष्य को उचित है कि आप ही अपने को नष्ट होने से बचावे और अपने को दुःख में न पड़ने दे। मनुष्य आप ही अपना शत्रु और आप ही अपना मित्र है।

संसार में नाश दो प्रकार से होता है-एक कालकृत दूसरा मनुष्यकृत। कालकृत नाश वह है जो अतिवृष्टि, अनावृष्टि अथवा अन्य किसी भाँति के प्रकोप आदि से होता है, जिसका प्रतिरोध करना मानव शक्ति के बाहर है। और मनुष्यकृत विनाश वह है जिसे मनुष्य स्वार्थ क्रोध काम मोह लोभादि मानसिक विकारों के वशीभूत होकर करता है। इन दोनों में अंतिम अत्यंत दारुण और संतापजनक है। मनुष्य के किए हुए का प्रतीकार देवता

भी नहीं कर सकते। हम लोग अपना विनाश स्वयं करते हैं। बिगाड़ने से बनाना कठिन है। बिगाड़ते देर नहीं लगती। यह बहुत ही सहज है। स्वार्थ, अदमता, अभिमान के वशीभूत हो जाओ, दूसरों को तृणवत् समझो, अपव्यय करने और ऋण लेने की लत डाल लो, जिह्वा के वशीभूत हो जाओ, खान पान अच्छे अच्छे और अधिक करो और व्यायाम तथा शुद्ध जल और वायु का सेवन त्याग दो; फिर देखो तो सही कि विनाश में क्या कसर रह जाती है।

इसी प्रकार हम सुगमता से यह जान सकते हैं कि किन किन उपायों और साधनों से हम अपने जीवन को आनंदमय बना सकते हैं। संसार ब्रह्म का अंश मात्र है। ब्रह्म आनंद का आकार और आनंदमय है। हमें आनंद प्राप्त करने के लिये कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है, केवल अभ्यास करने की आवश्यकता है। बिना अभ्यास के न हम स्वयं आनंदित हो सकते हैं और न अन्य को ही आनंदित कर सकते हैं। यदि हम सद्गुणों का, जिनसे मनुष्य आनंद प्राप्त कर सकता है, थोड़ा थोड़ा अभ्यास डालें तो हम अवश्य अपनी योग्यता और पुरुषार्थ के अनुसार आनंद और सुख प्राप्त कर सकते हैं। कितने लोगों का स्वभाव है कि वे ऐसी वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा करते हैं जिनको प्राप्त करने की उनमें योग्यता नहीं होती और न उनके प्राप्त होने की उन्हें संभावना ही होती है; और वे ऐसी आपत्तियों से बचना चाहते है जिनको हटाना

उनकी सामर्थ्य के बाहर है; तथा ऐसी बातें बका करते हैं जिन्हें वे स्वयं नहीं समझते या समझ सकते हैं। ऐसे लोग व्यर्थ अपना जीवन आकाश-कुसुम का स्वप्न देखने या मानस मोदक खाने में खोया करते हैं।

कहीं कहीं अत्यंत भलाई भी बुराई हो जाती है। अपने अपने स्थान पर सब भले होते हैं। दुष्ट पर दया करना और सज्जन को दुःख पहुँचाना दोनों समान हैं। अत्यंत साहस उद्धतता हो जाता है, अत्यंत करुणा हृदय-दौर्बल्य, अत्यंत मितव्ययता सूमड़ापन। एक ही पदार्थ यदि एक स्थल पर गुण है, तो दूसरे स्थल पर वह दोष अवश्य है। यदि कहीं अमृत है तो कहीं विष भी है। प्रकृति का नियम सब के लिये समान है। शस्त्र सब पर आघात पहुँचा सकता है, चाहे वह अपने ऊपर पड़े या किसी मित्र या शत्रु पर। दूध सब को समान हित-कर और विष सब का समान घातक है। आज तक किसी विद्वान् ने यह सिद्ध नहीं किया है और न वे कर सकते हैं कि प्रकृति के नियम में कुछ भी परिवर्तन कभी उपकारी हो सकता है। मनुष्यों ने आज तक प्रकृति से जो कुछ लाभ उठाया है, वह उसके सदुपयोग से उठाया है और आगे भी उसी से उठावेगा।

कितने लोग सुख की प्राप्ति को देवताओं का प्रसाद और दुःख को उनके प्रकोप का फल समझते हैं। पर यह बात नितांत मिथ्या और भ्रममूलक है। मनुष्य स्वतंत्र है; वह

अपना आप विधाता है। उसे अधिकार है, चाहे वह सुखी बने चाहे दुःखी। दुःख हमारे दोष का परिणाम है। कभी तो हम जान बूझकर ऐसे काम कर बैठते हैं, जिनका फल दु:ख होता है; और कभी हम भ्रमवश ऐसे काम, जिनका परि-णाम दुःख है, यह समझकर करते हैं कि ऐसे कामों के करने से हमें सुख प्राप्त होगा। यह नियम की बात है कि जैसा काम, वैसा परिणाम। विष चाहे कोई जानकर खाय या अन-जान में, उसके परिणाम में उसका मरण अवश्य होगा। पहली दशा में हम आँख मूँदकर अपने पैर में कुल्हाड़ी मारते हैं। ऐसी अवस्था में यदि हमारी आँखें खुली हैं तो हम उनसे काम नहीं लेते; अन्यथा हम सोच विचार कर काम करते। इसमें हमारा ही दोष है, किसी दूसरे का नहीं। दूसरी दशा में यह हमारी भूल है कि हमने अपनी बुद्धि, विद्या और ज्ञान से काम नहीं लिया और न हमने अपने आप्तों, पूर्वजों और मित्रों की बातों पर ध्यान दिया। दोनों अवस्थाओं में हमारा ही दोष है और विचार करने पर हम्हीं दोषी ठहरते हैं। यह हमारी मूर्खता है कि दुःख का साधन तो स्वयं उत्पन्न करते हैं, और उसका दोष ईश्वर के सिर मढ़ते हैं।

कितने लोग नियतवादी होते हैं। ऐसे लोगों का सिद्धांत है कि भावी प्रबल है, वह टलती नहीं। एक पुराने नियतवादी का कथन है—

यदभावि न तद्भावि भवि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ता विषघ्नोऽयमगदः किन्न पीयते ॥

पर ऐसे लोग यह विचार नहीं करते कि मनुष्य चेतन है वह आप अपना विधाता है। जब वह क्रिया करने में स्वतंत्र है, तब फल उसके हाथ में है। वह जिस फल की कामना करे, उसकी प्राप्त के लिये कर्म कर सकता है।

कितने लोग मिथ्यावादी या मायावादी हैं। उन्हें संसार माया-संभूत दिखाई देता है। उनका कथन है कि संसार मिथ्या है, उसके सारे व्यवहार मिथ्या हैं और समस्त सुख क्षणिक हैं। इस क्षणिक सुख के लिये मनुष्य को प्रयत्न न करना चाहिए। ऐसे लोग दिन रात संसार को उसकी असारता के लिये कोसा करते हैं। उन्हें स्त्री, पुत्र, इष्ट, मित्र, माता, पिता, और यहाँ तक कि स्वयं अपना जीवन भी मिथ्या और माया-जनित दिखाई पड़ता है। ऐसे लोग दिन रात परोक्ष का स्वप्न देखा करते हैं और अव्यक्त तथा अनिर्वचनीय विषयों पर माथा पच्ची किया करते हैं। ऐसे लोगों ने हमारे देश को अकर्मण्य बनाकर उसको बहुत हानि पहुँचाई है। ऐसे लोगों को संसार में चारों ओर से दुःख ही दुःख दिखाई पड़ता है।

आयुर्वर्षशत नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धंगतं ।
तस्यार्धस्य परस्य चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः ॥
शेषं व्याधि वियोग दु:खसहितं सेवादिभिर्नीयते ।
जीवे वारितरंग बुद्बुद समे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ॥

ऐसे लोगों को क्या कहा जाय! क्या क्षणिक होने मात्र से कोई वस्तु असद् या मिथ्या हो सकती है? हम स्वीकार करते हैं कि मनुष्य नाशमान है; उसका जीवन परिमित है; संसार में दुःख भी है। पर क्या इतने मात्र से हम यह मान लें कि मनुष्य हैं ही नहीं, संसार के सारे व्यवहार मिथ्या हैं और यहाँ लेश मात्र भी सुख नहीं है? क्या कोई वस्तु क्षणिक होने मात्र से मिथ्या हो सकती है? संसार में सभी पदार्थ परिणामी हैं; सभी परिमाण-जन्य हैं? फिर क्या इतने मात्र से ये कुछ हैं ही नहीं? भोजन करने से क्षुधा की क्षणिक तृप्ति होती है। दूसरे दिन फिर भूख लगती है और भोजन करने की आवश्यकता पड़ती है। फिर क्या लोग भोजन करना त्याग दें और उसके बदले विष भक्षण करके सो रहें जिससे फिर भोजन न करना पड़े? संसार में सुख भी है; दुःख भी है; भलाई भी है, बुराई भी है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह हंस की तरह अपने विवेक से काम ले; और जिसे वह उपकारी और हितकर समझे, उसका ग्रहण और विरुद्ध का त्याग करे। ऐसा करने से वह संसार में अपना जीवन आनंदमय बना सकता है।

कुछ और लोग हैं जो परोक्ष सुख के लिये दिन रात अपने शरीर को नाना प्रकार के कष्ट दिया करते हैं और अपने जीवन को दुःखमय बनाए रहते हैं। उनका कथन है कि "देह दुःखं महत्फलम्।" जो संसार में जितना ही अधिक कष्ट उठाता है, उसे परलोक में उतना ही अधिक सुख और आनंद मिलता

है। भगवान् गौतम बुद्ध ने ऐसे ही लोगों के चक्कर में आकर घोर तप किया था जिससे वे इतने दुर्बल हो गए थे कि उनमें उठने बैठने की शक्ति तक न रह गई थी; और अंत में उस महात्मा ने यह निश्चय और साक्षात् किया था कि सुख और शांति शरीर को कष्ट देने से नहीं मिलती, बल्कि चित्त की वृत्ति समान रखकर कर्म करने से मिलती है। यह भाग्य, काल, नियति या यदृच्छा से प्राप्त नहीं होती, किंतु मनुष्य अपने पुरुषार्थ से इसे प्राप्त करता है।

सब से आवश्यक गुण जो सफलता और आनंद प्राप्त करने के लिये अपेक्षित है, धृति और दृढ़-प्रतिज्ञता है। हमें उचित है कि सब से पहले हम मन में यह विचार करें कि हम क्या बनना चाहते हैं और हम कैसे अपने जीवन को एक सर्वोत्तम और आदर्श जीवन बना सकते हैं। हमें अपने ही आनंद से संतुष्ट न रहना चाहिए, किंतु सब के आनंद से आनंदित होना चाहिए। संसार के महात्माओं का जीवन हमें यह बता रहा है कि उन लोगों ने अपने ही आनद और शांति के लिये प्रयत्न नहीं किया है, किंतु संसार को आनंद और शांति देना ही अपना परम कर्त्तव्य जाना है। बुद्ध, कृष्ण आदि ऐसे ही महापुरुष थे।

सफलतापूर्वक आनंद प्राप्त करने का मार्ग सुगम नहीं है; पर साथ ही इसके वह बिलकुल दुःसाध्य भी नहीं है। यह वह मार्ग है जिसमें फूल और काँटे मिलाकर बिखराए हुए हैं।

हमें फूँक फूँककर पैर रखने की आवश्यकता है। सुख से हमें फूल न जाना चाहिए और न दुःख से घबराना चाहिए। बड़ी धीरता से हमें कठिनाइयाँ झेलकर अपने उद्देश्य को पूरा करना चाहिए। हमें अपने संकल्प पर दृढ़ रहना चाहिए और अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए। गीता में कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन।
माकर्मफलहेतुर्भूमास्तेसंगस्त्वकर्मणि।

कभी कभी हम प्रयत्न करने से भी कृतकार्य्य न होंगे। ऐसी अवस्था में हमें घबराना और निराश न होना चाहिए। बार बार अकृतकार्य्य होने पर भी हमें प्रयत्न करने से हटना न चाहिए। कितने काम ऐसे भी होते हैं जिनका फल पचासों वर्ष बाद मिलता है। संसार का इतिहास हमें बतला रहा है कि कितनी ही जातियों को अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिये सैकड़ों वर्ष लगातार प्रयत्न और श्रम करना पड़ा है।

इसके लिये किसी को उपदेश करने की कुछ आवश्यकता नहीं है। उपदेश करने का फल कभी कभी विपरीत होता है। नासमझों पर उपदेश का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता और समझदारों को उपदेश की आवश्यकता नहीं है। ऐसे नासमझों को, जो हित की बात पर ध्यान नहीं देते, विपत्ति में फँसने पर पछताना पड़ता है और फिर कुछ काम नहीं चलता। नीति में कहा है—

सुहृदां हितकामानां यः श्रृणोति न भाषितं।
विपत्सन्निहितातस्य स नरः दुःखभाजनः॥

मेरा यह कथन ऐसे ही लोगों के लिये है जो संसार में कुछ होना चाहते हैं, जिनका विचार कुछ करने का है और जो अपने को एक आदर्श पुरुष और अपने जीवन को एक आदर्श जीवन बनाना चाहते हैं।

सब से बुरी बात समय और अवसर का चूकना है। जितना काल हम व्यर्थ कामों में खोते हैं, उतने काल में हम यदि काम करें तो कितने मनुष्यों का उपकार कर सकते हैं। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हम चाहे कितने ही छोटे क्यों न हों, फिर भी हम मनुष्य समाज के क्या, संसार भर के एक अंश हैं। जिस प्रकार बूँद बूँद से समुद्र बना है, उसी प्रकार हम लोगों से समाज और समष्टि बनी है। इसलिये मनुष्य समाज का सुख हमारा सुख और मनुष्य समाज का दुःख हमारा दुःख है। जिस प्रकार वृक्ष के हरे रहने से ही उसकी पत्तियाँ हरी रहती हैं और पेड़ से अलग होकर कोई पत्ती हरी नहीं रह सकती, उसी प्रकार मनुष्य समाज के स्वस्थ और सुखी रहने से ही हम स्वस्थ और सुखी रह सकते हैं। समाज, देश और संसार का हित करना और उनको सुख पहुँचाना ही सच्चा आनंद है।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारे सुख वास्तविक हैं, कल्पित नहीं। हम लोग ऐसे अनेक काम करते हैं जिनमें

हम सुख समझते हैं। यदि वे दुःखद होते तो हम कभी उनके करने का नाम तक न लेते। हमें आनंद या सच्चे सुख को अच्छी तरह पहचान लेना चाहिए; क्योंकि संसार में कितने ही आनंदाभास भी हैं जो देखने में तो आनंद प्रतीत होते हैं, पर जिनका परिणाम दुःख होता है। उदाहरण के लिये चोरी को लीजिए। चोरी से धन की प्राप्ति भी होती है और ऐसे धन से हम स्वयं भी सुख प्राप्त कर सकते हैं और दूसरों को भी लाभ पहुँचा सकते हैं। पर यदि कोई हमें चोरी करते देख ले और हम पकड़ जायँ, तो उसका परिणाम अपकीर्ति और राजदंड है। सच्चे आनंद की साधारण पहचान यह है कि वह उत्कृष्ट और स्थायी होता है। कितने लोग इसी में आनंद मानते हैं कि उन्हें हाथ पैर हिलाना डुलाना नहीं पड़ता। दूसरे लोग इंद्रिय-सुख को आनंद मानते हैं। पर यह उन लोगों का भ्रम मात्र है।

निकम्मे बनकर पड़े पड़े सड़ने से हम आपने शरीर को और उसके साथ ही साथ अपने मन को भी मिट्टी में मिला देते हैं। हमारा वही शरीर और मन जिनसे यदि हम काम लेते, तो बड़े बड़े काम और विचार कर सकते, अस्वस्थ और निकम्मे हो जाते हैं और किसी काम के नहीं रह जाते। वे हमारे लिये बोझ हो जाते हैं और सब सुखों का मूल हमारा जीवन हमारे लिये दूभर हो जाता है। कहने को तो मनुष्य संसार के समस्त प्राणियों से श्रेष्ठ है; पर यदि मनुष्य में विद्या,

विज्ञान, साहित्य और संगीत आदि से प्रेम नहीं है, तो वह पशुओं से भी गया बीता है। पशुओं से तो अन्य प्राणियों का भी उपकार होता है, पर ऐसे निकम्मे नाम मात्र के मनुष्य केवल पृथ्वी के भार मात्र हैं, जो न स्वयं संसार से लाभ उठाते हैं और न दूसरों को लाभ पहुँचा सकते हैं।

येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुविभार भूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरंति॥

आनंद प्राप्त करने का सब से अधिक आवश्यक साधन विद्या है। विद्या ही मनुष्य की मनुष्यता है। अनादि काल से लेकर आज तक मनुष्य जाति प्रति दिन अपनी गवेषणा से विद्या में कुछ न कुछ आयोजना करती आई है और करती जाती है; पर फिर भी उसने सहस्रों वर्षों के निरंतर श्रम से भी विद्या की समष्टि का अंश मात्र ज्ञान भी नहीं संग्रह कर पाया है। विद्या अनंत है। यदि हम अपनी प्राप्त की हुई विद्या को उस विद्या के समुद्र से, जो हमें प्राप्त करना है, तुलना करते हैं तो वह एक बूँद भी नहीं ठहरती। हमने संसार के समस्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त नहीं किया है। एक एक अणु में सहस्रों गुण भरे हैं। हम यदि किसी वस्तु के एक गुण को जानकर उससे लाभ उठा रहे हैं, तो अभी उस वस्तु में अनेक ऐसे गुण वर्तमान हैं जिनसे लाभ उठाना तो दूर की बात है,

अभी तक हमें जिनका ज्ञान भी नहीं है। हम इसी संसार में उत्पन्न होते हैं और इसी के बीच अपने जीवन को रात दिन बिताते हैं। फिर भी यदि हम अपने जीवन के एक अंश मात्र को प्रकृति की शक्तियों और तत्वों के गुणों के जानने में लगावें और हम अपने जीवन में किसी एक के एक अंश को भी जानने में सफल मनोरथ हों तो हमारा जन्म सफल है। हमने अपने इस नए प्राप्त किए हुए ज्ञान से अपने पूर्वजों के ज्ञान भंडार को बढ़ा दिया, पितृ-ऋण चुका दिया और मनुष्य समाज को सदा के लिये अपना ऋणी बना लिया। यदि हम जानने में कृतकार्य्य न हुए तो भी हमारा वह समय निरर्थक नहीं गया; हमने उस समय में अपनी शारीरिक और मानसिक उन्नति लाभ की। क्या यह दुःख की बात नहीं है कि मनुष्य जाति अपना धन, ओज, पुरुषार्थ और समय अपनी ही जाति के लोगों को हानि पहुँचाकर स्वार्थ साधने में व्यय कर रही है और उस विद्या के समुद्र को प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करती जिसका एक विन्दु मात्र उसे सहस्रों वर्ष लगातार श्रम करने पर आज तक नहीं प्राप्त हुआ है ?

सत्य सदा एक है। वह सब धर्म, सब देश और सब जाति-वालों के लिये समान है। दूध सब को मीठा लगता है। दो और दो सब के जोड़ने में चार होता है, चाहे जितनी परीक्षा की जाय, सदा चार ही ठहरेंगे। यही सत्य है; यही ज्ञान है; यही विज्ञान है; इसी के जानने से मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है।

संसार के समस्त पदार्थों में यही सत्य व्याप्त है। इसी सत्य को विद्या कहते हैं। यही समस्त सुखों का मूल है। पर सत्य का जानना कठिन है। कभी कभी क्या, प्रायः हम कुछ का कुछ समझ लेते हैं। इसी का नाम भ्रम या अविद्या है। यह भ्रम हमें अपनी इन्द्रियों के दोष, असावधानी और अविवेक से होता है। यही भ्रम दुःख का हेतु है; यही बंधन है; इसी से छूटने और बचने का नाम आनंद और मोक्ष है।

यद्यपि साक्षात्करण ही विद्या का प्रधान साधन है, तथापि सब प्राणी साक्षात्कृतधर्मा नहीं हो सकते। जिस प्रकार सहस्रों में दो चार बुद्धिमान होते हैं, उसी प्रकार सहस्रों बुद्धिमानों में कहीं एक आध दैव योग से साक्षात्कृतधर्म्मा निकल आते हैं। पर साधारण लोगों के लिये विद्या का पढ़ना और पढ़ाना तथा स्वाध्याय भी विद्या की प्राप्ति के साधन हो सकते हैं। बहुत दिन नही हुए कि कहीं सहस्रों में एक आध पढ़े लिखे आदमी मिलते थे। आज कल अंग्रेजी सरकारी की कृपा से पढ़े लिखों की संख्या कुछ अधिक हो गई है। यह देखकर कितने लोग यह कहा करते हैं कि आज कल शिक्षा आवश्यकता से अधिक हो गई है। जिन्हें पढ़ने की कुछ आवश्यकता नहीं, आज उनके भी लड़के पाठशालाओं में पढ़ते हुए मिलते हैं। भला इतना पढ़ाना हमारे किस काम आवेगा! जितना रुपया लड़कों के पढ़ाने में खर्च होता है, उतना तो वे जीवन भर में भी कमा न सकेगे। यदि वही रुपया उनकी शिक्षा में व्यय

न करके हम उनके लिये छोड़ जायँ, तो उतने ही में वे अपना जीवन सुख से निर्वाह कर सकते हैं। कितने लोग यह सोचते हैं कि लड़का को पढ़ाने लिखाने से कोई लाभ नहीं, वे बिना पढ़े ही अपन पैतृक सम्पत्ति या काम से सुखपूर्वक अपना निर्वाह कर सकेंगे। पर ऐसे लोगों की समझ में यह नहीं आता कि मूर्ख आदमी पढ़े लिखों क अपेक्षा अपने धन को अधिक व्यय करते और व्यर्थ कामों में लगाते हैं जिससे न उन्हें स्वयं लाभ होता है और न दूसरों ही को लाभ पहुँचता है। वे सदा दुःखी रहते हैं और उन्हें स्वप्न में भी सच्ची शांति और आनंद नहीं प्राप्त होता।

कितने लोग जीवन की अव्यक्त अवस्था के लिये सिरपच्ची करते रहते हैं और व्यर्थ अपने मानसिक ओज को निरर्थक बातों की खोज में नष्ट करते हैं, जिसे यदि वे कहीं और लगाते तो अनेक ऐसे काम कर सकते जिनसे उन्हें स्वयं और कितने अन्य लोगों को लाभ पहुँचता। संसार एक दर्पण है। यदि तुम हँसो तो उसमें हँसता हुआ प्रतिबिंब दिखाई देता है; यदि तुम रोओ तो उसमें रोता हुआ प्रतिबिंब भासित होता है। जैसे तुम हो, वैसा ही यह तुम्हारे लिये बनेगा। जैसा चश्मा तुम अपनी आँख में लगाओगे, वैसा हीं संसार प्रतीत होगा।

यह संसार एक बृहत् कर्म-क्षेत्र है। यहाँ हम लोग कर्म करने के लिये आए हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम सुख दुःख

हानि लाभ के झोंकों की कुछ परवाह न करते हुए धर्मपूर्वक उत्साह से अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए, अपना और दूसरों का कल्याण करते हुए, जीवन व्यतीत करें। यही पुरुषार्थ है, यही सच्चा आनंद है, यही शांति है, और यही मोक्ष का मार्ग है—

एवं कर्माणि कुर्वन् जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयिनान्यथेतोऽस्तिकर्मलिप्यते नरे॥

दूसरा परिच्छेद

चातुरी या ढंग

यालोकद्वय सधनी तनुभृतां साचातुरी चातुरी।

जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये ढंग या चातुरी की बड़ी आश्यकता है। यह गुण बुद्धि से अधिक उपयोगी है। बुद्धि तो विद्या और सत्संग से मिल सकती है, पर ढंग सीखने से नहीं आता। यह मनुष्यों में सहज या स्वभाव से ही होता है। बड़े बड़े विद्वान् और बुद्धिमान जहाँ अपना काम नहीं कर सकते और अकृतकार्य्य रह जाते हैं, वहाँ एक साधारण मनुष्य अपने ढंग से अपना काम सहज ही में निकाल लेता है और सब लोग मुँह ताकते रह जाते हैं।

यद्यपि यह गुण मनुष्यों में स्वभाव से ही होता है, पर फिर भी दो चार बातें यहाँ लिखी जाती हैं जिन पर यदि मनुष्य ध्यान रखकर काम करे तो वह अनेक कठिनाइयों और अड़चनों को, जो सफलता के मार्ग में वाधा उपस्थित करनेवाली हैं, सुगमता से पार कर सकता है।

सब से आवश्यक बात यह है कि जहाँ तक हो सके, ऐसा काम न किया जाय जिससे किसी को दुःख पहुँचे। पर इतना

ही नहीं, हमें यह भी उचित है कि हम स्वयं कष्ट उठाकर ऐसा काम करें जिससे दूसरे हम से खुश रहें। हमें उचित है कि हम ऐसे अवसर को हाथ से न जाने दें जिनमें हमें दूसरों को खुश करने का अवकाश मिले। यह संभव है कि हम आनंदित या खुश न हो सकें, पर फिर भी हम किसी न किसी तरह दूसरों को खुश कर सकते हैं।

हमें सदा मीठा और प्रिय वचन बोलना चाहिए। इसमें हमारा कुछ लगता नहीं; पर इतने मात्र से बड़ा काम हो जाता है।

तुलसी मीठे वचन तें सुख उपजत चहुँ ओर।
वशीकरण एक मंत्र है तजि दे वचन कठोर॥

जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये यह बहुत आवश्यक है कि हम अपनी मीठी बातों से दूसरों को अपना बना लें। हम अकेले होकर संसार में कोई काम सफलतापूर्वक नहीं कर सकते, जब तक कि दूसरे लोग हमारे सहायक न हों। संसार में मित्र उत्पन्न करने के लिये प्रियवादिता से बढ़कर कोई दूसरा उपाय नहीं हो सकता। मनुजी लिखते हैं—

तृणानिभूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहेनोच्छिद्यंते कदाचन॥

सदा यह स्मरण रखना आवश्यक है कि मनुष्य कोई पशु नहीं हैं कि तुम उन्हें डंडे के बल से मार पीटकर अपने वश में कर सकते हो। ये समझदार व्यक्ति हैं और तुम इन्हें

समझा बुझाकर अपना अनुचर बना सकते हो। यह बहुत लाभदायक है कि हम उनसे इस प्रकार व्यवहार करें कि जिससे हम पर उनका विश्वास शीघ्र जम जाय। ऐसे लोगों के साथ, जिनसे हमें व्यवहार करना हो, हमें ऐसा वर्ताव करना चाहिए जिससे उन पर हमारी साख शीघ्र जम जाय।

सब से अच्छा प्रभाव जिससे मनुष्यों पर पड़ता है, वह सदाचार है। सदाचारी मनुष्य का सब जगह आदर होता है और उसका सब कोई विश्वास करते हैं। कहा है—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारा दीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारोहन्त्यलक्षणम् ॥

परोपकार करना भी एक ऐसा गुण है जिसका अवलंबन करने से हमें जीवन की सफलता में बहुत कुछ सुगमता होती है। दूसरों के मनोरथ को जहाँ तक हम से हो सके, पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि कोई दीन दुखी अर्थी हमारे पास अपना दुःख या प्रयोजन कहने आवे, तो हमें उसकी बात सुनने से घबराना न चाहिए। उसकी बातों को हमें सावधान होकर सुनना चाहिए। कितने लोग तो केवल अपना दुखड़ा ही सुनाना चाहते हैं; उनका और कुछ अभिप्राय नहीं होता। ऐसे लोगों की बात सुनने से हमें अपना समय या जी चुराना न चाहिए। इससे उन्हें कष्ट पहुँचता है। जब तुम किसी की कुल बात सुन लो और उसके अभिप्राय को समझ लो, तो जहाँ तक तुम से हो सके, समझ बूझकर उचित

रीति से उसकी सहायता करो। इसमें तुम्हारा कुछ विशेष नहीं लगता। थोड़े समय, परिश्रम या व्यय से तुम उसे सदा के लिये मोल ले लेते हो। संसार में उससे तुम्हारा बहुत काम निकलेगा। वह तुम्हारे आड़े समय काम आवेगा। पर इतना ध्यान रखो कि यदि उसकी सहायता करना तुम्हारी सामर्थ्य और शक्ति के बाहर हो, तो तुम उसे साफ उत्तर देने में देर न करो। तुमसे उसे अवकाश मिल जायगा। वह धोखे या दुविधा में नहीं पड़ेगा और किसी दूसरे से अपनी विपत्ति कहकर उससे सहायता माँग सकेगा।

हाँ से नहीं करना कठिन काम है, यद्यपि संसार में ऐसे पुरुष रत्न कम हैं जो हर्षपूर्वक हाँ करते होंगे। इससे सैकड़ों मनुष्यों का सत्यानाश हो जाता है। पर यदि तुम्हें इनकार करने और नकारने ही का अवसर पड़े, तो उसे इस ढंग से करो कि जिससे सुननेवाला यह न समझे कि तुम सामर्थ्य रखते हुए इनकार करते हो। उससे तुम्हें फिर काम पड़ेगा। यह परम आवश्यक है कि हम ऐसे लोगों के साथ, जिनसे हमें नित्य प्रति किसी प्रकार का व्यवहार पड़ता है और जिनसे काम है, ऐसा बरताव करें कि जिससे वह हर्षपूर्वक हमारे काम आ सके और फिर हमारे पास आने की इच्छा करे। व्यवहार मन की शुद्धता से होता है। कितने लोग यह समझते हैं कि लोग लाभ के लिये व्यवहार करते हैं; पर यह उनकी भूल है। प्रत्येक मनुष्य को यह कामना होती है कि

मुझ पर लोग अनुग्रह रखें और मुझसे सभ्यता का बरताव करें। जहाँ स्पष्ट और सभ्यता का बरताव होता है, वहाँ लोग थोड़े लाभ पर भी व्यवहार करते हैं।

मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थप्रिय है। वह अपने सुख की जितनी परवाह करता है, उतनी दूसरे के सुख की नहीं करता। आप सुखी, संसार सुखी। अपने सुख के लिये तो सभी प्रयत्न करते हैं; पर संसार में ऐसे विरले ही मनुष्य हैं जो दूसरों को सुख पहुँचाने के लिये प्रयत्न करते हों। यह गुण विरले ही मनुष्यों में होता है। जिसने यह बचपन से नहीं सीखा, उसे सारे जीवन में इस गुण का आना कठिन है। संसार में कितने ही मनुष्यों को, जिनमें कोई विशेष योग्यता नहीं होती, केवल अपने शील और सदाचारा से ही सफलता प्राप्त होती है; और कितने ही उत्कृष्ट के गुणवालों के शुद्ध हृदय और अच्छे विचार होते हुए भी उनकी रुखाई से अनेकों शत्रु उत्पन्न हो जाते हैं। सच बात तो यह है कि सज्जनों को जैसा आनंद दूसरों को सुख देने में होता है, वैसा अकेले सुखी होने में नहीं होता।

किसी काम को जब प्रारंभ कर दिया, तब उसमें धीरता से लगे रहना आवश्यक है। उसमें घबराना न चाहिए और न अड़चनों के पड़ने पर उसे छोड़ना चाहिए; किंतु शांति धारण करके अपना कर्तव्य समझ लगातार प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य बड़ी बड़ी आपत्तियों और कठिनाइयों को सुगमता से पार कर जाता है।

यदि तुम्हें अपने काम में किसी ऐसे मनुष्य से पाला पड़े जो तुम्हारे जैसा चतुर न हो या मूर्ख हो, तो तुम्हें उसकी खिल्ली न उड़ानी चाहिए और न उसे घृणा की दृष्टि से देखना चाहिए। पहले तो तुम्हें ऐसा करने का कोई अधिकार ही नहीं है; और इसके अतिरिक्त तुम सर्वज्ञ तो हो नहीं सकते जो किसी की सूरत देखकर ही उसके विषय में सब कुछ जान लो। कितने ऐसे लोग भी संसार में हैं जो देखने में सीधे सादे देख पड़ते हैं, पर काम करने में बड़े चतुर और योग्य होते हैं।

मनुष्यों का पहचानना सहज काम नहीं है। यह विद्या नहीं है कि पुस्तकों के पढ़ने से प्राप्त हो जाय। संसार में सब से कठिन भाषा चीनी भाषा है जिसमें प्रत्येक भाव के लिये पृथक् आकृति नियत है, पर उसका भी पढ़ना उतना कठिन और दुःसाध्य नहीं है जितना मनुष्यों की आकृति को देखकर उनके आचार व्यवहार और आंतरिक भावों को जानना है। मनुष्य की आकृति एक पर्दा है जिसके भीतर उसके अन्तःकरण की भलाई और बुराई छिपी रहती है। कौन जान सकता है कि तृणावृत गड्ढे में खजाना छिपा है या प्राणघातक छुरी कटारी भरी है। लोग कहा करते हैं 'पेट का पनहा जीभ'। पर कभी कभी कहनेवाले की आँखें कुछ और ही भाव प्रकट करती हैं। ऐसी अवस्था में अनुभवी और परीक्षक मनुष्यों का कथन है कि आँखों द्वारा प्रदर्शित भाव प्रायः सच होते हैं।

कितने लोग मिलने पर, चाहे उनसे कभी की जान पह-

चान न हो, ऐसी बातें करते हैं मानों वे कहाँ के मित्र हैं और पहले ही मिलन में वे बड़ी बड़ी आशा दिलाने लगते हैं। ऐसे लोगों की बातों में आना ठीक नहीं है और न उन पर विश्वास करना ही बुद्धिमानी की बात है। हम यह नहीं कहते कि संसार सज्जनों और परोपकारी पुरुषों से शून्य है; पर यहाँ प्रायः ऐसे पुरुष भी हैं जो बातें बनाकर अपना अर्थ साधना चाहते हैं। इसलिये चटपट किसी के विषय में यह निश्चय न कर लो कि वह तुम्हारा मित्र या शत्रु है।

मारने को तो हम यह डींग मारते हैं कि हम बुद्धिमान् हैं, हम युक्ति और तर्क से काम लेनेवाले हैं, संसार में हम्हीं लोग एक विवेकी प्राणी हैं, शेष प्राणियों में न तो विवेक है और न वे युक्ति और तर्क से काम लेना जानते हैं। पर यह मानना हमारी भूल है कि मनुष्य सदा युक्ति और प्रमाण के अनुसार ही काम करता है। मनुष्य एक अद्भुत प्राणी है। वह युक्ति और तर्क से काम लेने की शक्ति रखता हुआ भी प्रायः अधिकांश में पक्षपात और मानसिक विकारों से ही प्रेरित होकर काम करता है। यह नियम सर्व साधारण के लिये है। यदि कोई विशेष व्यक्ति विवेक, बुद्धि, युक्ति, प्रमाण और तर्क द्वारा सुनिश्चित काम करता है, तो ऐसे को हम मनुष्य कोटि के अंतर्गत होते हुए भी देव कोटि का मानते हैं। ऐसे पुरुष-रत्न संसार में दुर्लभ नहीं; किंतु सौभाग्यवश किसी किसी देश या जाति में मनुष्यों के उद्धार के लिये जन्म ग्रहण करते हैं। हमें संसार में

जिन लोगों के बीच रहना और काम करना है, वे ऐसे नहीं हैं कि हम उन्हें युक्ति और प्रमाण द्वारा समझाकर उनसे काम ले सकें, किंतु ऐसे लोग हैं जिन्हें हम तब तक अपने अनुकूल नहीं बना सकते जब तक कि उनकी हम पर श्रद्धा और विश्वास न जम जाय। ऐसे लोगों पर तर्क का प्रभाव विपरीत पड़ता है। तर्क से ऐसे लोग उदासीन हो जाते हैं और उससे वैमनस्य होने की संभावना होती है। हम यह मानते हैं कि तर्क करने से तुम अपने पक्ष को सिद्ध कर सकोगे; पर इतने मात्र से तुम किसी को समझाकर अपना मित्र या अनुयायी न बना सकोगे। यदि दैवयोग से तुम को तर्क करने की आवश्यकता ही पड़े, तो विपक्षी या वादी की बातों को जहाँ तक संभव हो, स्वीकार करने में मत चूको; और फिर उसे यह दिखाने का प्रयत्न करो कि उसने अमुक अमुक बातों पर दृष्टिपात नहीं किया जिससे उसे भ्रम हुआ है। ऐसा करने से संभव है कि यदि वह समझदार है तो अपने पक्ष की निर्बलता स्वीकार कर लेगा। संसार में बहुत कम ऐसे पुरुष रत्न और सच्चे पुरुष हैं जो तर्क द्वारा समझाए जाने पर अपनी भूल स्वीकार कर के अपना पक्षपात त्याग कर सच्ची बात के मानने और तदनुसार कर्म करने पर कटिबद्ध हो जाते हैं। कितने लोग यह भी नहीं समझते कि उनका पक्ष गिर गया है; और कितने तो समझने पर भी परास्त होना अपना अपमान समझते हैं और काशी के पंडितों के शास्त्रार्थ की तरह अपनी ही हाँका करते

हैं। मान लो कि तुमने किसी को युक्ति और प्रमाणों द्वारा परास्त कर दिया; तो क्या इतने मात्र से उसकी आत्मा को संतोष हो गया और उसकी शांति हो गई ? वासना बड़ी प्रबल होती है। किसी सिद्धान्त को बहुत दिनों तक मानने से उसके साथ उसको राग हो जाता है। यह राग उसको उसका मिथ्यात्व प्रमाणित होने पर भी उसे छोड़ने नहीं देता। जब तक मनुष्य का हृदय राग और द्वेष से शून्य न हो, तब तक उसे युक्ति और प्रमाण से काम लेने का अधिकार नहीं है और न वह उसके द्वारा समझाए जाने पर समझ ही सकता है। अतः यह कहना अनुचित नहीं है कि तर्क साधारण लोगों के लिये नहीं है। साधारण लोगों के लिये तो इतना ही पर्य्याप्त है कि तुम उनके सामने अपने अभिप्राय को स्पष्ट और जहाँ तक हो सके, थोड़े शब्दों में कह दो; और इतने मात्र से यदि उसे तुम्हारी बात ठीक जँच गई, तो बस तुम्हारा काम हो गया।

वाक्पटुता एक अच्छा गुण है; पर इतने मात्र से यह न समझ लो कि अधिक बकवाद करनेवाले वाक्पटु हैं। वाक्-पटुता या वाग्मिता और वस्तु है और वाचालता या प्रलाप दूसरी वस्तु है। पहली गुण और दूसरी दूषण है। कहा है—

अल्पाक्षररमणीयं यः कथयति निश्चितं स खलु वाग्मी।
बहुवचनमल्पसारं यः कथयति प्रलापी सः॥

अच्छे वक्ता से अच्छा श्रोता होना कठिन है। यह अत्यंत

लाभदायक और उपकारी है। बहुत आवश्यक है कि श्रोता वक्ता की सब बातों को; जिनमें वह चाहे छिद्रान्वेषण करे अथवा तत्व निर्णय करे, सावधानी से सुने। उसपर उसे चटपट अपना विचार स्थिर न करना चाहिए और चुपचाप सावधानी से वक्ता के अभिप्राय और आंतरिक भावों को याथातथ्य समझने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि तुम सच्चे हितैषी और शुभ-चिंतक हो तो चुप रहने पर भी लोग तुम्हारी सम्मति अवश्य मानेंगे; अन्यथा तुम्हारे बकने पर भी कोई ध्यान न देगा। किसी सभा में जाकर यदि तुम विद्या और वयोवृद्ध नहीं हो, तो तुम्हें इसकी परवाह नहीं करनी चाहिए कि लोग तुम्हें आदरपूर्वक आसन दें या बात बात में तुम्हें आदर से संबोधन करें और तुम्हारी सम्मति माँगें। तुम्हें चुपचाप बैठकर लोगों की बात सुननी चाहिए। देखनेवालों को तमाशा करनेवालों से कौतुक का अधिक मजा मिलता है। ऐसी अवस्था में तो तुम्हें ऐसे रहना चाहिए कि मानो तुम वहाँ हो ही नहीं। क्या ही अच्छा होता यदि तुम्हें कोई सिद्ध गुटका मिल जाती जिससे कोई तुम्हें देख न सकता।

बुद्धिमांश्चापि मूर्खो वा गत्वा च विपुलां सभाम्।
संरक्षेत्स्वकां जिह्वां भार्य्यां दुश्चारिणीं यथा॥

सबसे बड़ा दूषण वाक्-पारुष्य है। मनुष्य अपनी जीभ की कड़ुवाई से संसार में सैकड़ों शत्रु उत्पन्न कर लेता है। कहावत है कि तलवार का घाव पूज जाता है, पर बात का घाव आजन्म

हरा रहता है। जिस पुरुष की वाणी कठिन है, उसे संसार में शत्रु की कमी नहीं। मृदु वचन से क्रूर से क्रूर मनुष्य का भी कलेजा पसीज जाता है, क्रोधाग्नि पर पानी पड़ जाता है। मृदुभाषी पुरुष के संसार में सभी मित्र हैं। वह जहाँ जाता है, उसका आदर और सन्मान होता है।

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हार न चंद्रोज्वला।
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृतं मूर्धजा॥
वाण्येका समलंकृतोति पुरुषं या संस्कृता धार्य्यते।
क्षीयंते खलुभूषणानिसततं वाग्भूषणं भूषणम्॥

बनने की कभी चेष्टा मत करो और सदा अपने वास्तविक रूप में रहो। स्तुति और निंदा में समान भाव रखो। यदि तुम निंदा योग्य नहीं हो तो किसी के निंदा करने मात्र से तुम निंदित नहीं होगे। मनुष्य समाज तुम्हारे गुणों के अनुसार तुम्हें स्थान देगा। यदि तुम्हारे काम प्रशंसनीय नहीं हैं, तो एकाध व्यक्ति के प्रशंसा करने से तुम अच्छे नहीं हो जाओगे। सब से अधिक बुराई आत्मश्लाघा है। अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना अच्छा नहीं है। अच्छा पुरुष वही है जिसे समाज अच्छा कहे। किसी पुरुष के विषय में जब तक आवश्यकता न पड़े और तुम्हारा ऐसा करना आवश्यक कर्तव्य न हो, यह न कह बैठो कि वह मूर्ख है अथवा अयोग्य है। संभव है कि तुम्हारा अनुमान ठीक न हो। ऐसी अवस्था में उसे भी तुम्हारे विषय में

वैसा ही कहने का उचित अधिकार होगा। पर इतने मात्र से यह न समझो कि तुमको सदा लोगों को प्रसन्न करने के लिये उनकी व्यर्थ और झूठ मूठ की प्रशंसा करनी चाहिए। तुम्हें सत्य और प्रिय वचन बोलना चाहिए, पर उद्वेगजनक और अप्रिय सत्य बोलने से तो तुम्हारा मौन ही रहना भला है—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात्सत्यमप्रियं।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात्मौनात्सत्यं विशिष्यते॥

सजग रहो पर इतने सजग नहीं कि बात बात में शंका किया करो। संशयात्मता से बढ़कर सफलता का और दूसरा बाधक नहीं है। व्यवहार और व्यवसाय में उपयुक्त पुरुष को उसके योग्य काम में नियुक्त करो। एक पुरुष एक ही काम के लिये योग्य हो सकता है। यदि तुम्हें किसी मनुष्य पर विश्वास न हो तो उसे कोई काम मत सौंपो। सौंपने पर विश्वास न करने का फल अच्छा नहीं होता। अविश्वासी को सफलता होना कठिन है। उसे सुख और आनंद भी नहीं मिल सकता। संभव है कि विश्वास कर उसे कितनी जगह लाभ के बदले हानि उठानी पड़े। पर फिर भी दूसरों को धोखा देने से स्वयं धोखा खाना अच्छा है। इसमें तो केवल उसी की थोड़ी सी हानि है; पर इससे तो समाज में घुन लगता है जो अत्यंत हानिकारक है।

जब विश्वास करो तो पूर्ण करो; पर स्मरण रहे कि तुम्हारा

विश्वास अंध विश्वास न हो। अंध विश्वास ही के कारण द्रोणाचार्य्य जी के प्राण गए। संसार में विश्वास ही एक ऐसी वस्तु है जो मनुष्य-समाज को मर्य्यादा में रखे हुए है; पर सब का समान विश्वास न करना चाहिए। प्रत्येक में मात्रा भेद होता है। इसका विशेष और स्पष्ट उदाहरण अर्थ के व्यवहार में मिल सकता है। एक पुरुष का सौ रुपए का विश्वास किया जा सकता है; पर उसी का सहस्र रुपए का विश्वास नहीं हो सकता। दूसरे का सहस्र रुपए का विश्वास किया जाता है, पर उसका विश्वास लाख रुपए के लिये नहीं किया जाता।

शरीर और वस्त्र को स्वच्छ रखना और समयानुकूल ऐसे वस्त्र धारण करना जिन्हें भले आदमी पहनते हों, संसार में सफलता प्राप्त करने के लिये आवश्यक है। यह आवश्यक नहीं कि तुम्हारा वस्त्र बहुमूल्य हो और वस्त्र के लिये तुम धन का अपव्यय करो। तुम अपना वस्त्र अपने आपके अनुसार बनाओ, पर उसे स्वच्छ और साफ़ रखो। संसार में लोगों का ध्यान वस्त्र पर बहुत जाता है। वे तुम्हारे गुणों को तो कुछ काल में जानेंगे, पर तुम्हारे वस्त्र पर तुम्हें देखने के साथ ही उनकी दृष्टि पड़ेगी। कितने लोगों को हम देखते हैं कि योग्यता न होने पर भी संसार में केवल उनके वस्त्रों की स्वच्छता ही के कारण उनका मान होता है। यहाँ बहुत कम लोग हैं जो किसी के गुणों और योग्यता के परखने का कष्ट उठाना अच्छा समझते हैं। अधिक लोग केवल आँख और कान ही की सहायता

से देख और सुनकर ही लोगों के विषय में विचार स्थिर कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सोचने की बात है कि जब तुम अपने वस्त्र और शरीर को स्वच्छ रखने में इतने ढीले और आलसी रहोगे, तो कोई तुमसे यह कब आशा रख सकता है कि तुम और कामों को मन लगाकर और लाग से करोगे?

समाज या संप्रदाय में रहकर तुम्हारे लिये यह आवश्यक है कि तुम ऐसे पुरुष को अपना आदर्श बनाओ जो इस समाज और संप्रदाय में आचार व्यवहार के विचार से आदर्श और श्रेष्ठ माना जाता हो। समाज के आचार और व्यवहार का पालन करना अपना कर्तव्य समझो। आप्त पुरुषों की आज्ञा का पालन करो। इसमें तुम्हारा कुछ विशेष नहीं लगेगा; केवल तुम्हारा थोड़ा सा समय लगेगा या कुछ धन व्यय होगा। धर्म के अनुष्ठान में उसके फल की आकांक्षा त्याग दो। यदि वह कर्म्म निष्फल भी हो और उसके करने से तुम्हारी कुछ हानि भी हो, तो भी तुम उसे अपना कर्तव्य समझकर पालन करो। धर्म को कितने लोग व्यापार समझते हैं। यह उनकी भूल है। परलोक कोई मंडी नहीं है जहाँ हम दूने चौगुने लाभ के लिये यहाँ से सौदा भेजें। धर्म अपना कर्तव्य है। धर्म अपने पूर्वजों की आज्ञा का पालन करना है। उसमें चाहे हमारा लाभ हो या हानि, उसका करना हमारा कर्तव्य है। क्या इतने से हमारी आत्मा को शांति नहीं हो सकती कि यह कर्तव्य है, यह हमारा धर्म है, हमारे पूर्वज इसे पालन करते आए हैं, इसका पालन

करना हमारी गीता में कहा है—

श्रेयः स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे मरणं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

तीसरा परिच्छेद

मितव्यय

आपदर्थे धनरक्षेद्दारान्रक्षेत्प्रयत्नतः

आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपिधनैरपि।

हमारे देश की आर्थिक अवस्था अन्य देशों की तरह नहीं है, जहाँ लोगों की आय अधिक है और सब के सब काम करनेवाले और व्यापार-कुशल हैं। यहाँ आय बहुत कम है; और यदि कमानेवाला एक है, तो खानेवाले अनेक। देश में न कला कौशल है न कारीगरी है। यदि व्यापार भी है तो आपस ही का या आन्तरिक व्यापार है। वाह्य व्यापार कुछ भी नही है। इसके अतिरिक्त आयव्यय की इतनी भरमार है कि यहाँ मितव्यय शब्द का अर्थ ही कृपणता समझा जाता है। यहाँ के लोगों का यह सिद्धांत रहा है—

दातव्यं भोक्तव्यं सति विभवे न संचयो कर्तव्यः

पश्येह मधुकरीणां संचितमर्थं हरन्त्यन्ये।

यद्ददाति यदश्नाति तदेवधनिनो धनं।

अन्ये मृतस्य क्रीड़न्ति दारैरपि धनैरपि।

यह वाक्य कितने ही अंशों में ठीक भी है। ऐसा धन जो अपने काम में न आवे और न जो पराए काम में लगाया जाय, केवल गाड़कर रखने के लिये हो, वह केवल मिट्टी और

पत्थर के समान है और उसका संग्रह करनेवाला खजाने पर का साँप है। पर इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि हम अपनी सारी आय को व्यय कर डालें और उसमें से एक अंश भी बचाकर न रखें जिसमें वह हमारे आए दिन काम आवे; अथवा अपनी आय से अधिक व्यय करके ऋण का बोझ अपने ऊपर लादकर सदा के लिये दरिद्रता को अपने घर की अधिष्ठात्री देवी बना लें। मनुष्य-जीवन के लिये दरिद्रता से बढ़कर कोई दूसरी विपत्ति नहीं है—

दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः सत्वात्परिभ्रश्यते
निःसत्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते।
निर्विण्णः शुचमेति शोकनिहतो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामस्पदम्।

हम स्वीकार करते हैं कि धन की तृष्णा एक बुरी लत है; धन संग्रह करना भयंकर आपत्ति लानेवाला है। धनी पुरुष लाखों रुपए रहने पर भी सुख की नींद नही सो सकता। पर इतना होने पर भी यह आवश्यक नहीं कि हम अपनी कमाई का सब धन उड़ाकर फाके मस्त बने रहें। हमारा कर्तव्य है कि हम जो कुछ करें, अपनी आय के अनुसार ही करें। यज्ञ, दान आदि सभी कुछ अपनी आय के अनुसार ही करना चाहिए। महाराज हरिश्चन्द्र को अपनी आय से अधिक दान करने के कारण चांडाल के हाथ बिकना पड़ा था।

ऐसे देश में, जैसा कि हमारा है, ऐसे व्यर्थ उपस्कारों के खरीदने में अपना धन व्यय करना; जिसके बिना भी हम सुख-पूर्वक रह सकते हैं, अत्यंत हानिकारक है। मनुष्य के सुख के लिये घर, भोजन और वस्त्रादि साधारण उपस्कार पर्य्याप्त हैं। यह आवश्यक नहीं कि तुम अपना घर पत्थर का या ईंट और चूने का ही बनाओ या महल ही बनाओ। तुम उसे अपनी आय के अनुसार मिट्टी का या ईंट का बना सकते हो और उसे फूस या खपरैल से छा सकते हो। मुख्य बात तो घर की सफाई है। एक साफ सुथरा फूस का घर अच्छे महल से अधिक सुखकर हो सकता है। भोजन के लिये भी तुम अपनी आय के अनुसार रोटी दाल या दाल चावल खा सकते हो। ये साधारण आहार ऐसे हैं जो तुम को स्वस्थ रख सकते हैं। आवश्यक कपड़े लत्ते के अतिरिक्त दूसरे उपस्कार खरीदते समय तुम्हें सोच लेना चाहिए कि उसके खरीदने में तुम्हारी सारी आय तो नहीं चुक जाती अथवा तुम ऋणी तो नहीं होते। किसी वस्तु के खरीदने के पहले तुम्हें अपनी गठरी टटोल लेनी चाहिए और फिर यह सोचना चाहिए कि वह वस्तु ऐसी तो नहीं है जिसके विना भी हम सुख से रह सकते हैं।

ऋण लेकर खर्च करना अथवा चीजें उधार लेना अच्छा नहीं है। उधार लेना अथात् ऋण लेना एक ऐसी लत है जिससे बड़ी बड़ी रियासतें तबाह हो गई हैं। ऋण देने-

वाले या उधार सौदा बेचनेवाले जितनी ही खुशामद और आवभगत ऋण देने या वस्तुओं को उधार देने के समय करते हैं, उतनी ही रुखाई ऋण के या वस्तुओं का मूल्य लेने में करते हैं। उस अनादर को देखते हुए कौन समझदार पुरुष ऋण लेने का साहस करेगा! महाभारत में कहा है—

दिनस्य चाष्टमे भागे शाकः पचति स्वगृहे।
अनृणी चाप्रमादी च सवारिचरमोदते॥

हमारे देश के लोग धन का अपव्यय विशेष कर दान और उत्सवों आदि में करते हैं। दान देना एक अच्छी बात है; पर वह दान सुपात्र को देना चाहिए। दान के पात्र दो हो सकते हैं—एक विद्वान् और दूसरे दीन और दरिद्र पुरुष। ऐसे पुरुष को दान देने से कोई लाभ नहीं जो दान को अपव्यय में लगावे अथवा उसे संचय करके जमा रक्खे। हमारे देश में विद्वानों को दान देने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आती है। शास्त्रों में विद्वान् को दान देने की बड़ी प्रशंसा की गई है। उस समय आजकल की भाँति गाँव गाँव में पाठशालाएँ और बड़े बड़े नगरों में स्कूल और कालिज नहीं थे। हमारे बच्चों की शिक्षा और उनके पालन का भार हमारे देश के विद्वान् ब्राह्मणों के मत्थे था। वे लोग अपनी सारी आयु देशसेवा में लगाते थे। वे बच्चों को, जिन्हें लोग आठ या दस वर्ष की अवस्था में उनके आश्रमों में छोड़ आते थे, पालन पोषन करते हुए शिक्षा देते थे। वे कृषि आदि कोई दूसरी आजीविका नहीं करते थे।

उनके भरण पोषण तथा उनके शिष्यों के भरणपोषण का भार देश पर था। हमारे देश के लोग उन आचार्य्यों की यथा समय अन्न धनादि दान से पूजा करते थे। विद्वानों को दान देने का यह भी तात्पर्य्य है कि विद्वान् हमारे दिए हुए धन को किसी देश-हित के काम में लगावें। विद्वान् मनुष्य समाज के मुख हैं। जिस प्रकार मुख में खाया हुआ अन्न रस बनकर सारे शरीर के अंग प्रत्यंग को पुष्ट करता है, उसी प्रकार विद्वान् को दिया हुआ दान सारे मनुष्य समाज को किसी न किसी रूप में लाभ पहुँचाता है।

अहो किमपि चित्राणि चरित्राणि महात्मनाम् ।
लक्ष्मी तृणाय मन्यन्ते तद्भारेण नमन्त्यपि ॥

आज कल की व्यवस्था ही कुछ अलग है। आज कल दान ऐसे लोगों को दिया जाता है जो या तो उसे भोग विलास या अन्य कामों में लगाते हैं अथवा उसे गाड़कर अपनी सन्तानों के अपव्यय करने के लिये छोड़ जाते हैं। दोनों ही अवस्थाओं में वह धन अपव्यय में लगता है; न हमारे और न दूसरों के काम आता है। ऐसे लोगों को दान देने का फल यह है कि देश में अकर्मण्यता बढ़ती जाती है। हजारों बच्चे जो समाज में रहकर और उसका अंग बनकर अपने श्रम से अपना और दूसरों का भरण पोषण करते, प्रति वर्ष हम लोगों से अलग होकर कोई कंठी तिलक धारण कर, कोई सिर मुँडा गेरुआ वस्त्र पहन, कोई कान फड़वा, कोई कोई वेष धारण

कर साधु होते जाते हैं। इससे हमारे देश में अकर्मण्यता फैलने के साथ ही साथ निर्धनता और व्यवसायहीनता बढ़ती जाती है।

देश की आर्थिक अवस्था एक तो वैसे ही दिनों दिन हीन होती जाती है, दूसरे इन सहस्रों अकर्मण्य साधुओं के भरण पोषण का क्या, कितनों के भोग विलास का भी भार हमारे देश के थोड़े से गरीब खेतिहरों के मत्थे पड़ता है।

दूसरे प्रकार का दान दरिद्रों और अनाथों को दान देना है। पहले तो अनाथों और दीनों की ओर लोगों की दृष्टि ही नहीं जाती। यदि जाती भी है तो वे बेचारे पावें तो तब, जब मुफ्त-खोरों से बचे। हमारे देश के लिये कितने ही श्रीमानों ने भिन्न भिन्न स्थानों में दीनों और दुखियों के लिये सत्र खोल रखे हैं; पर उनका प्रबंध उन लोगों ने ऐसे लोगों के हाथों में दे रखा है जो उस दान का बहुत बड़ा भाग स्वयं हड़प जाते हैं और बचा खुचा भंडारी और अन्य कर्मचारियों और उनके संबंधियों के काम आता है। इससे जो बच रहा, वही गरीबों के हाथ या पेट में पहुँचता है। इसके अतिरिक्त उन लोगों में जो अपने को हीन और अनाथ प्रकट करते हैं अथवा जो देखने में, वैसे प्रतीत होते हैं, कितने ऐसे लोग भी हैं जो वास्तव में अनाथ नहीं हैं, किंतु धन संचय के लिये ऐसा रूप बनाकर रहते हैं। काशी में तथा अन्य तीर्थों में कितने ऐसे हैं जो देखने में तो महा दरिद्र देख पड़ते हैं, पर उनके पास हजारों रुपए की

सम्पत्ति है जिसे वे या तो गुप्त रीति से भोग विलास में खर्च करते हैं अथवा जोड़कर गठरी जमा करते हैं। इन कृत्रिम दीनों ने वास्तविक दीनों के दान के मार्ग को भी रोक रखा है जिनके विषय में महाभारत में कहा गया है—

दरिद्रान्भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं निरुजस्य किमौषधम्।

ऐसी अवस्था में हमें, यदि हममें दान करने की योग्यता हो और हम अपनी गाढ़ी कमाई के किसी अंश को अपने देश की सेवा में लगा सकें, तो उचित है कि हम दान देने के पहले पात्र की परीक्षा कर लें; अथवा यदि न कर सकें तो कम से कम उस द्रव्य को ऐसी संस्था में पहुँचा दें जहाँ उस धन के किसी देशहित के काम में लगाए जाने का उचित प्रबंध हो। पाठशाला, अनाथालय आदि ऐसी संस्थाएँ हैं जहाँ हमारे द्रव्य का उचित सद्व्यय हो सकता है।

दूसरा व्यय उत्सवों का है। हमारे देश के लोगों का यह स्वभाव है कि लोगों की देखा देखी अपनी सामर्थ्य पर विचार न करके ऋण लेकर भी व्याह आदि में व्यय करते हैं। हम स्वीकार करते हैं कि विवाहादि ऐसे कृत्य हैं जिनमें अधिक व्यय की आवश्यकता है। ऐसी ही अवस्थाओं के लिये तुम्हें अपनी कमाई का कुछ अंश बचाकर रख छोड़ना चाहिए। वाह वाह में फँसकर ऋण लेकर काम करना कभी उचित नहीं है। उस समय तो तुम्हें खरचते भला लगेगा और

दो चार दिन आमोद प्रमोद में कटेगा; पर तुम्हारे जीवन का अधिक भाग उस ऋण के बोझ के नीचे दबकर दुःख-मय हो जायगा; और उस समय तुम्हें अपने किए पर पछताना पड़ेगा।

हम यह नहीं कहते कि तुम शास्त्रों की विधि और लोक प्रथा छोड़ दो और थोड़ा सा धन बचाकर सदा के लिये लोकापवाद का कलंक अपने ऊपर लो। शास्त्रों की विधि को मानना और लोक प्रथा के अनुकूल चलना हमारा कर्तव्य है; पर उसके लिये हमें ऋण लेने की आवश्यकता नहीं। हम उसे अपनी वृत्ति के अनुसार कर सकते हैं। हमें शास्त्रों की आज्ञा माननी है। शास्त्र हमें कृत्यों के करने की आज्ञा देते हैं, न कि ऋण करने की। गृह्यसूत्रों को विचारपूर्वक पढ़ जाओ, तो तुम्हें ज्ञात होगा कि उसमें यह कहीं नहीं लिखा है कि इस काम में तुम इतना धन अवश्य व्यय करो। उसमें तो यहाँ तक लिखा गया है कि हमें एक या दो ब्राह्मणा से अधिक को भोजन भी न कराना चाहिए—

द्वे देवे पितृकार्य्ये त्रीण्येकमुभयत्रवा

यह हमारी मूर्खता है कि हम अपने अपव्यय का दोष शास्त्रों के सिर मढ़ते हैं। शास्त्रानुसार कोई संस्कार करने में एक या दो रुपए से अधिक व्यय नहीं हो सकता। रही दक्षिणा की बात; वह तुम्हारी वृत्ति के अधीन है; चाहे तुम दो पैसा दो या दस लाख दे डालो।

पूर्वजाज्ञेति निर्हेतुं स्मार्ताचारान्यपालयेत्।
आज्ञानिर्वाह मात्राय संक्षेपादविमूढ़धी ॥

इसके अतिरिक्त एक और कर्म है जिसमें हमारे देश के लोग देखा देखी धन का अपव्यय करते हैं। वह मंदिरों और देवालयों का बनाना है। इसमें कितने ही हमारे देश के कारीगरों की भी आजीविका है। शास्त्रों में देवालयों का बनाना धर्म भी माना गया है। इसके बनाने से देश का उपकार भी है। पर जब हम वर्तमान देवालयों की दुरवस्था की ओर ध्यान देते हैं, तो देश काल के अनुसार आजकल मंदिरों और देवालयों का बनाना अच्छा प्रतीत नहीं होता। हम देखते हैं कि प्रत्येक नगर और तीर्थ में पचासों मंदिर गिरे पड़े हुए हैं। कितना में कभी कोई चिराग भी जलाने नहीं जाता। कितने ही मंदिरों में समर्पित देवोत्तर सम्पत्तियों को वहाँ के महंत और पुजारी कुकर्म्म और अपने विषय भोग में लगा रहे हैं। धर्म के स्थान में अधर्म हो रहा है। ऐसी दशा में कौन ऐसा पुरुष होगा जो देवालय बनाने का नाम भी लेगा। ऐसी अवस्था में यदि तुम्हें धन खर्चना ही है, तो यह उत्तम है कि तुम उस धन से किसी टूटे फूटे देवालय का जीर्णोद्धार या मरम्मत करा दो या किसी ऐसे देवालय में जहाँ चिरागबत्ती और पूजा आदि न होती हो, वहाँ उसका उचित प्रबंध कर दो। ये ऐसे काम हैं जिनमें तुम्हारा धन भी कम लगेगा और प्राचीनों की कीर्ति का जीर्णोद्धार भी हो जायगा।

सारांश यह कि दानादि करना बुरा काम नहीं है, पर उसे अपनी वृत्ति के अनुसार करना चाहिए और हमें उसके लिये ऋण का बोझ न उठाना चाहिए। देशकाल पात्रादि देख कर दानादि करना चाहिए।

तुम्हें कभी यह चिंता न करनी चाहिए कि तुम्हारे पास धन नहीं है। सच्चा धनी वह नहीं है जिसके पास बहुत धन है, पर जो उसे खर्च नहीं करता; अथवा जो अपनी वित्त से अधिक खर्च करता है; बल्कि सच्चा धनी वही है, जो चाहे उसके पास विशेष धन न हो पर अपनी आय के अनुसार अपने धन को सद्कार्यों में व्यय करता है और उसके एक अंश को आगे के दिन के लिये उठाकर रख छोड़ता है। चाहे तुम्हारे पास दस लाख वार्षिक आय की सम्पत्ति हो, पर यदि तुम्हारा व्यय उससे एक कौड़ी भी अधिक है, तो तुम सदा दुखी रहोगे। यदि तुम्हारी मासिक आय पाँच रुपए की है और तुम उसमें से पाँच आना या पाँच पैसा भी बचा रखते हो, तो तुम सदा सुखी रहोगे। संग्रह करने में यह विचार मत करो कि तुम थोड़ा थोड़ा बचाकर क्या करोगे। देखो, एक एक कण करके च्यूँटियाँ अन्नराशि संग्रह कर लेती हैं। एक पैसा रोज बचाने से साल भर में मनुष्य पौने छः रुपए के लगभग बचा सकता है, जिससे उसका कभी कोई काम निकल सकता है।

कितने लोग आय व्यय का लेखा नहीं रखते। वे समझते हैं

कि क्या हमें किसी को लेखा समझाना है। वही लोग जब किसी कोठी या कचहरी में नियुक्त होते हैं, तो पाई पाई का हिसाब लिखते हैं और एक एक पाई का बट्टा निकालते हैं। यह एक बड़ा दोष है। हमें यह न समझना चाहिए कि जब हमें किसी को लेखा समझाना हो, तभी हमें लेखा रखने की आवश्यकता है। लेखा रखने से हमें यह ज्ञान होता है कि हमें अमुक मास में कितनी आय हुई और हमने कहाँ कहाँ व्यय किया। हम प्रत्येक मास में यह सोच सकते हैं कि इस मास में हमारा इतना धन अपव्यय हुआ; और दूसरे महीने में हम सजग रह सकते हैं और अपने धन को अपव्यय से बचा सकते हैं। स्मरण रखो कि संसार में जितने बड़े बड़े काम हैं, वे बचानेवालों या धन संचय करनेवालों हो के किए हुए हैं। आय और व्यय को बराबर करनेवाले अपना पेट पालने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकते।

कभी किसी रोजगार को बुरा मत समझो। यदि तुम अपने रोजगार को सँभालोगे तो तुम्हारा रोजगार भी तुम्हें सँभालेगा। संसार में कोई रोजगार बुरा नहीं। खेती हो या वाणिज्य, दस्तकारी हो या व्यापार, सभी अच्छे हैं। केवल उन्हें चित्त लगाकर और देश काल का विचार करके करना चाहिए। सेवा करने और भीख माँगने से सभी अच्छे हैं। घाघ का कथन है—

उत्तम खेती मध्यम बान।
नीच चाकरी भीख निदान॥

कोई व्यवसाय क्यों न हो, उसके करने के लिये कारबारी होने की आवश्यकता है। कारबारी होना कोई कठिन काम नहीं है। प्रत्येक पुरुष किसी न किसी रूप में कारबारी है। हम सब लोग गृहस्थ हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपना कर्तव्य करना पड़ता है। घर का प्रबंध करना पड़ता है और व्यय के लिये प्रबंध करना पड़ता है। यही सब काम व्यवसाय में भी करना पड़ता है। भेद केवल इतना ही है कि वह बड़ा काम है और यह छोटा काम है। यह बात सभी जानते हैं कि छोटे कामों में कितनी कठिनाई पड़ती है। फिर जब हम अपने घरू कामों को किसी न किसी रूप में सुंदरता से कर सकते हैं, तो हमारे लिये रोजगार और व्यवसाय का प्रबंध करना क्या कठिन होगा!

चाहे छोटा काम हो या बड़ा, दोनों जगह तरतीब और ढंग अत्यंत प्रयोजनीय है। जो चीज जहाँ की है, उसे अपने ठिकाने पर रखना एक ऐसा काम है जिस पर ध्यान देने से मनुष्य को कहीं काठनाई नहीं हो सकती। काम होने पर चीजों को अपने ठिकाने पर रख दो। यद्यपि इसमें तुम्हें उस समय थोड़ा सा कष्ट होगा, पर दूसरे समय जब तुम्हें उसकी आवश्यकता पड़ेगी, तो तुम विशेष उलझन और कष्ट उठाने से बच जाओगे।

हमारे देश में कारीगरी का काम नीच माना जाता है और कारीगरी का व्यवसाय करनेवाली जातियों को धर्मशास्त्रों में

और पुराणों में शूद्र माना है। इन लोगों को शिक्षा तक से वंचित रखा गया है, जिसका परिणाम यह है कि हमारे देश की कारीगरी दिन दिन रसातल को पहुँच रही है। छोटी जाति-वालों को आजकल यदि हमारी सरकार की कृपा से कुछ शिक्षा मिल जाती है, तो वह अपने पैतृक व्यवसाय को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और उसे छोड़ या तो सरकारी दफ्तरों में नौकरी करते हैं अथवा कोई अन्य व्यवसाय करते हैं। इससे इस प्रकाश के युग में भी हमारे देश की कारीगरी उन्नति नहीं कर सकती। यही दशा वाणिज्य, कृषि और व्यापार की है। यद्यपि आजकल कुछ वैश्यों ने व्यापार से बहुत कुछ उन्नति कर ली है, फिर भी वे न जाने क्यों अपने पैतृक व्यवसाय को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वे लोग या तो ज़मींदारी की ओर झुक जाते हैं अथवा पढ़ लिखकर सरकारी कचहरियों में कोई पद स्वीकार करते हैं। इससे हमारे देश में कृषि और वाणिज्य तथा व्यापार की भी दिनों दिन अवनति होती चली जाती है। हम यह स्वीकार करते हैं कि सरकारी नौकरी करने से मनुष्य को अधि-कार प्राप्त होते हैं, उसे प्रतिष्ठा मिलती है, दस पाँच मनुष्य उसकी अधीनता में रहते हैं जिन पर वह मनमानी हुकूमत कर सकता है; पर हम यह कभी मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि नौकरी से मनुष्य को धन या सुख मिल सकता है।

संसार में बड़े बड़े दार्शनिक विद्वान्, जिन्होंने हमारे देश में

बड़े बड़े दर्शन के ग्रंथ रचे हैं, धनवान नहीं थे। वे साधारण पुरुष थे। पर क्या कोई कह सकता है कि संसार में उनके जीवनकाल में या उनके पीछे उनको लोग कम आदर की दृष्टि से देखते रहे हैं अथवा वे दुःखी थे? सच्ची शांति धन में नहीं है। यह एक मानसिक वृत्ति है। निर्धनता इसे हिला नहीं सकती। धन न होने पर भी समझदार मनुष्य को चिंता न करनी चाहिए। सावधान होकर उसके प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। श्रमपूर्वक जो कुछ उसे मिले, उसपर संतुष्ट रहना चाहिए। उसी में से हमें कुछ बचाकर रख छोड़ना चाहिए। जो मनुष्य उपार्जन करके अपनी आय के अनुसार व्यय करता है, वह सदा सुखी रहता है; और जो उपार्जन करके अपने संचित धन को व्यय करता जाता है, वह अंत में दुःख को प्राप्त होता है—

अर्थानामर्जनं कार्य्यं वर्धनं रक्षणं तथा।
भक्ष्यमाणो निरादायः सुमेरुरपि हीयते॥

चौथा परिच्छेद

विश्राम

कैसा ही काम हो, चाहे दौड़ने धूपने का और एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूम फिर कर करना हो अथवा एक जगह बैठकर करना हो, चाहे उसमें शारीरिक श्रम पड़ता हो अथवा मानसिक, कैसा ही परिश्रमी मनुष्य क्यों न हो, दस पाँच घड़ी अविश्रांत जमकर काम करने से उसका मन उखड़ जाता है, जीऊब जाता है और हाथ पैर शिथिल पड़ जाते हैं। उसका मन काम करने में नहीं लगता। और यदि वह हठवश उस काम को करना ही चाहे, तो वह उसे बनाने की जगह बिगाड़ देता है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह एक ही काम को लगातार नहीं कर सकता। जैसे एक ही भोजन करते करते उसे वह भोजन अच्छा नहीं लगता और वह दूसरे भोजन की इच्छा करता है, वैसे ही एक ही काम करते करते उसे अनिच्छा हो जाती है और वह उस काम को उस चाव से नहीं कर सकता, जिस चाव और उमंग से उसने उसे प्रारंभ किया था। ऐसी अवस्था में यदि वह थोड़ी देर के लिये खेल खेलने या टहलने में अपना मन बहला ले, तो उसका मन फिर काम करने में लगने लगेगा और वह फिर कुछ समय तक उस काम को करता रहेगा।

हमारे देश में जिन खेलों के खेलने की चाल नगरों में और विशेष कर भलेमानसों में है, वे प्रायः बैठकर खेलने के हैं। जैसे शतरंज, गंजीफा, चौसर आदि। दूसरे प्रकार के खेल वे हैं जिनमें मनुष्य को अपने अंग प्रत्यंग से काम लेना पड़ता है। उनका प्रचार गाँवों में और वहाँ भी विशेष कर साधारण पुरुषों में है जिन्हें उनके लड़के खेला करते हैं। जैसे कबड्डी, डुडुआ, लकची डाँड, इत्यादि। इनका प्रचार सभ्य समाज और नागरिक जनों में बिलकुल नहीं, जिसके कारण शिक्षित पुरुषों और नागरिक जनों का शरीर दुर्बल भद्दा या बेडौल हो जाता है। अब कुछ शिक्षितों में टेनिस आदि पाश्चात्य खेलों के खेलने का शौक उत्पन्न हो रहा है और अँग्रेज़ी स्कूलों के छात्रों को क्रिकेट, फुटबाल आदि खेलाए जाते हैं और उनसे अंग्रेज़ी कसरत और ड्रिल आदि कराई जाती है जिससे आशा की जाती है कि संभव है कि हमारे होनहार बालकों के स्वास्थ्य में कुछ सुधार हो और उनके अंग प्रत्यंग पूर्ण रूप से परिवर्धित होकर उनके शरीर को सुडौल बनाने में सहायता दें।

खेल खेलना जी बहलाने के लिये है। हमें चाहिए कि जब हमारा मन कोई काम करते करते ऊब जाय, तो थोड़ी देर के लिये हम जी को कोई न कोई खेल खेलकर बहला लें। इस से हमारा मन फिर ताजा हो जायगा और काम करने में लगेगा। जब हम दिन भर काम करते

करते थक जायँ, तब रात को सो लेने से हमारी सब थकावट दूर हो जाती है और हम फिर काम करने के योग्य हो जाते हैं। दिन भर काम करने में हमारे ओज का जितना व्यय होता है, रात को सोने से वह फिर हममें आ जाता है अथवा उसकी पूर्ति हो जाती है। ठीक इसी प्रकार थोड़ी देर खेल कूद लेने से उखड़ा हुआ मन फिर काम करने में लगने लगता है और हम फिर उस काम को करने के लिये तैयार हो जाते हैं।

किसी प्रकार का खेल क्यों न हो, चाहे बैठकर खेलने का हो या दौड़ धूपकर खेलने का, केवल मन को बहलाने के लिये खेलना चाहिए। बैठकर खेलने के खेलों में शतरंज और गंजीफा ऐसे खेल हैं जिनके खेलने से मनुष्य की मानसिक शक्तियों की उन्नति होती है। कितने लोगों का यह स्वभाव होता है कि उनका मन जितना खेलने में लगता है, उतना काम करने में नहीं लगता। ऐसे लोग चाहे लड़के हों या जवान, अपना अधिकतर समय खेलने में बिताया करते हैं। ऐसे लोगों के लिये खेल मन बहलावे की चीज़ न होकर एक व्यसन का रूप धारण कर लेती है। सब व्यसन बुरे होते हैं। खेल का भी व्यसन बुरा ही होता है। ऐसे लोग संसार के काम काज से जी चुराया करते हैं; और उन्हें खेल को छोड़ दूसरा काम भाता ही नहीं। कितने लोग, और विशेष कर जिन्हें खाने पीने की कुछ चिन्ता नहीं, निठल्ले बैठे

ताश, गंजीफा, शतरंज आदि खेलने में अपना दिन काटा करते हैं और पूछने पर यह उत्तर देते हैं कि क्या करें, बैठे बैठे जी घबराता है; इसी से जी बहलाते हैं। ऐसे लोगों की संगत से जहाँ तक हो सके, समझदार मनुष्य को बचना चाहिए। मनुष्य को यह समझना चाहिए कि मनुष्य जन्म होने का पुरुषार्थ कर्म करना है, न कि निठल्लू बैठकर समय खोना। हमें समय का सदुपयोग करना चाहिए, न कि दुरुपयोग। हमें उचित है कि यदि लगातार किसी काम में लगे रहने से जी घबरा जाय, तो मन बहलाव करने के लिये थोड़ी देर के लिये हम खेल आदि में सम्मिलित होकर अपना जी बहला लें। और खेल भी हमें ऐसा खेलना चाहिए कि जिससे हमारी मानसिक और शारीरिक उन्नति हो।

खेल के अतिरिक्त मन बहलाव के काम सैर और शिकार हैं। सैर करने से मनुष्य के शरीर और मन को जितनी ताज़गी होती है, उतनी और किसी काम से नहीं होती। मनुष्य जीवन के लिये शुद्ध जल के अतिरिक्त जितना शुद्ध वायु का सेवन करना लाभदायक है, उतनी दूसरी चीज़ संसार में नहीं है। पानी और अन्न के बिना तो हम कुछ काल तक रह भी सकते हैं; पर यदि वायु न मिले तो हम एक पल भी नहीं जी सकते। नगर के रहनेवाले शुद्ध वायु न मिलने के कारण प्रायः रोगी और अस्वस्थ रहते हैं। उनका वर्ण पीला पड़ जाता है और शरीर कृश और रोगी हो जाता है। गाँववाले तो खेतों

और मैदानों में काम के लिये फिरा करते हैं; और गाँव की घनी बस्ती न होने के कारण वहाँ की वायु भी उतनी गंदी नहीं होती। वहाँ लोगों के घर भी उतने सटे नहीं होते जिससे वहाँवालों को शुद्ध वायु के झोंके मिला करते हैं। और यदि गाँव में कुछ भी सफाई की ओर दृष्टि दी जाय तो वहाँ शुद्ध वायु का गमनागमन अच्छी तरह हो सकता है। पर नगर के लोगों को या तो दूकान या घर पर बैठकर काम करना पड़ता है अथवा वे नगर ही में काम करते हैं। वहाँ के घर भी एक दूसरे से अत्यंत सटे होते हैं, बस्ती घनी होती है। गलियाँ तंग और सँकरी तथा दुर्गंधपूर्ण होती हैं। आँगन तंग और दीवारें ऊँची होती हैं। खेतों और मैदानों का बिल्कुल अभाव होता है जिससे नगर की वायु म्युनिसिपैलिटियों के अनेक उपाय करने पर भी दूषित और स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होती है।

वह स्थान जहाँ मनुष्य को शुद्ध वायु मिल सकती है, ये हैं—खेत, उद्यान, मैदान, नदी, झील, सरोवर, जंगल, पहाड़ और समुद्र। इनमें भ्रमण करने से मनुष्यों को शुद्ध वायु के अतिरिक्त ब्रह्म विभूति या प्रकृति का सौंदर्य्य देखने में आता है। भाँति भाँति के पशु, पक्षी, कीट, बनस्पति आदि को देखने का अवकाश मिलता है; नाना भाँति के अनुभव प्राप्त होते हैं। खेतों और मैदानों की लहकती हुई हरियाली को देखकर आँखों में तरावट आती है। उद्यान की शीतल मंद सुगंध समीर

मस्तिष्क को सुवासित कर देती है। जंगलों और पहाड़ों में अनेकानेक वृक्ष कंद मूल फल फूल सरिता नदी निर्झर झरने और गुफाएँ देखने में आती हैं, जहाँ की सुखद वायु शरीर को स्पर्श करके मन में नई नई उमंगें उत्पन्न करती है और शिथिल आत्मा को शांति देकर उसमें नए ओज का संचार करती है। नाना विहंगों की कूज, मोर आदि पक्षियों के रंग बिरंगे रूप, पडुकों का कलरव और कोकिला आदि पक्षियों की कूक मन में अलौकिक सुख उत्पन्न करती है। वहीं एक व्यथित आत्मा की व्यथा शांत होती है। इसी लिये संसार के विरक्त पुरुष वहाँ अपना आश्रम बनाकर अपनी संतप्त आत्मा की शांति का उपाय ढूँढा करते हैं। सच पूछो ता जो अलौकिक आनंद प्रकृति के सौंदर्य्य या ब्रह्म विभूति के देखने से मिलता है, वह कभी उस बनावटी शोभा में, जो नगरों और गाँवों में देखने में आती है, प्राप्त नहीं हो सकती।

यदि तुम्हारी यह इच्छा हो कि शुद्ध वायु के सेवन के साथ ही तुम्हें कुछ अपने हाथ पैर भी हिलाने पड़ें, तो यह बहुत ही अच्छा होगा कि तुम सवारी पर सैर करने की अपेक्षा खेतों और मैदानों में पैदल सेर करो; नदियों और झीलों में अपने हाथ से नौका खेओ; पहाड़ों पर स्वयं चढ़ो; जिससे तुम्हारे अंग प्रत्यंग को श्रम पड़े और तुम्हारे मन के बहलने के साथ ही साथ तुम्हारे शरीर को भी कुछ लाभ पहुँचे।

यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम यहाँ शिकार भी खेल सकते हो। तुम मैदान में बंदूक, भाला, अथवा गुलेल, ढिलवाँस या तीर कमान से, जो तुम्हारे पास हो, निशाना लगा सकते हो और जंगलों में पशु पक्षियों का शिकार कर सकते हो। जलाशयों में तुम वंसी आदि से मछलियों का और बंदूक आदि से मगर आदि का शिकार कर सकते हो। सब से अधिक उत्तम शिकार जिसमें मनुष्य को अपनी वीरता और चातुरी से काम लेना पड़ता है, सूअर का शिकार है। सूअर का शिकार बंदूक और भाले दोनों से किया जाता है; पर भाले का शिकार अत्यंत कुतूहलजनक और मरदाना होता है। भाले के शिकार में शिकार खेलनेवाले को दृष्टि और औसान दोनों से काम लेना पड़ता है। शिकार खेलने में यदि कोई जानवर साथ दे सकता है और अवसर पर काम आ सकता है, तो वह घोड़ा है।

सवारियों में घोड़े की ही एक ऐसी सवारी है जिसे हम मन बहलाने के लिये अच्छा कह सकते हैं। हाथी आदि की सवारी कई कारणों से देश और काल के अनुकुल नहीं है। पुराणों में हम देवताओं के विमानों का वर्णन पढ़ा और सुना करते हैं, पर वह हमारे प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। आज कल की सवारी प्रत्यक्ष का विषय है, जो थोड़े ही काल में हमें कहीं से कहीं उठाकर पहुँचा देती है। महीनों का मार्ग दिनों में ते करा देती है। यदि तुम चाहो तो कल ही

यह तुम्हें बंगाल की दलदल से निकालकर कश्मीर की स्वर्ग-भूमि में पहुँचा सकती है; अथवा राजपूताने की जलती हुई मरुभूमि से निकालकर मलयगिरि के शिखिर पर डाल सकती है। रेल गाड़ी में यात्रा करने से न केवल दूर का मार्ग शीघ्र कट जाता है, किंतु मनुष्य के जीवन काल में कुछ आधिक्य भी हो जाता है; और उस काल को, जिसे वह यात्रा में लगाता, किसी अच्छे उपयोगी काम में लगा सकता है। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न स्थानों के भ्रमण और जलवायु से हमारा स्वास्थ्य भी बहुत कुछ अच्छा हो जाता है। धुआँकश या अग्निबोट भी जलाशय या समुद्र की रेलगाड़ी कही जा सकती है। आज कल सभ्यता के काल में यदि मनुष्य चाहे और उसके पास सम्पत्ति हो, तो थोड़े ही दिनों में वह अनेकानेक देश देशांतरों का भ्रमण करके अनेक सद्गुणों और अनुभवों का संचय कर सकता है। हमारे देश के सहस्रों श्रीमान् देशांतरों को भ्रमण कर अपने देश को लौट आ चुके हैं; पर उनमें से अधिकांश लोग देशांतरों में रह अपने सद्गुणों को गँवा और वहाँ के लोगों के दुर्गुणों को लेकर आए हैं जिससे उनकी यात्रा से, चाहे वे मानें या न मानें, उनको और देश को दोनों को लाभ की जगह हानि ही पहुँची है।

पुस्तकों, समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं के पढने से भी एक प्रकार से मनुष्य का मन बहलता है। शारीरिक व्यायाम जिस प्रकार मानव शरीर के लिये लाभदायक है, ठीक उसी

प्रकार भिन्न भिन्न पुस्तकों और पत्र पत्रिकाओं का पढ़ना मनुष्य के मस्तिष्क के लिये उपकारी है। बातें करने से भी मनुष्य का मन बहल सकता है; पर बात करने में ढंग की आवश्यकता है—वाक्पटुता अपेक्षित है।

थोड़ी देर तक किसी ऐसी जगह, जहाँ वायु का गमनागमन हो, घास पर या वृक्ष के नीचे पड़े रहना और चिड़ियों के सुहाने बोल सुनना या प्रकृति का सौन्दर्य्य अवलोकन करना भी एक उचटे हुए मन को फिर हरा भरा कर सकता है।

अपने इष्ट मित्रों से मिलना और उनसे वार्तालाप करना, पुस्तकें आदि पढ़ना, गीत वाद्य सुनना, कविता, दस्तकारी, कला कौशल, व्यायाम, विश्राम, प्रकृति के सौन्दर्य्य का निरीक्षण, सवारी, सैर, शिकार, खेलकूद, ऋतु-सौंदर्य्य, सायं और प्रातःकाल की शोभा, चन्द्रिका आदि सब मनुष्य के मन को बहला सकते हैं और उसकी आत्मा को आनंद के सागर में थोड़े काल के लिये निमग्न कर सकते हैं।

संसार में मनुष्य के लिये सब कुछ सुखद है। गरमी हो या जाड़ा या बरसात, धूप हो या छाँह, दिन हो या रात, सायंकाल हो या प्रातःकाल, पशु हो या पक्षी, सब मनुष्य को आनंदमय और सुख देनेवाले हैं। पुरुषार्थी पुरुष के लिये सब कुछ आनन्दमय है। वह स्वयं आनंदमय है; उसके लिये सारा संसार आनन्ददायक है।

ममता तिरोभवति हन्त यदा ।
सकलात्मता च समुदेति मुदा ॥
चित्शक्तिरप्रति हताथ तदा ।
प्रथते प्रमादविगमादमला ॥

पाँचवाँ परिच्छेद

स्वास्थ्य

धर्मार्थ काम मोक्षाणांमारोग्यं मूलकारणम्।

हमारे शरीर में मन ही सर्वप्रधान है। इसी को लोग अंतःकरण, जीवात्मा, आत्मा, प्रत्यक् चेतन आदि कहते हैं। यही हमारे शरीर का अधीश्वर, स्वामी और राजा है। इसी की आज्ञा से हमारी इंद्रियाँ अपने अपने विषय में प्रवृत्त होती हैं। हमारे शरीर के पट्ठे, शिरा आदि संकोच और विकास करके हमारे अंग प्रत्यंग में गति उत्पन्न करती हैं। बिना इसकी आज्ञा पाए हमारा शरीर मृत्तिपिंडवत् चेष्टाहीन पड़ा रहता है। इतना शक्तिशाली होने पर भी यही मन, यदि हमारा शरीर अस्वस्थ रहे या हमारी इंद्रियाँ विकारयुक्त हों तो कुछ नहीं कर सकता। जब हम रोगग्रस्त होते हैं और हम में हिलने डोलने की शक्ति नहीं रहती, तो हमारा वही मन हम हज़ार चाहें तो भी एक तिनका भी नहीं उठा सकता। हमारे मन की सारी शक्तिमत्ता और उसके सब अधिकार निरर्थक हो जाते हैं। कितनी अवस्था में तो यहाँ तक देखा गया है कि शरीर में विकार और रोग उत्पन्न होने से हमारा मन भी विकार-युक्त और अस्वस्थ हो जाता है। हमारे शरीर और मन का वही संबंध है जो एक अंधे और पंगुल में है।

यदि अन्धा मिले तो पंगुल जहाँ चाहे वहाँ पहुँच जाय। पर उसके अभाव में वह एक पग भी नहीं चल सकता। इसी प्रकार हमारे शरीर के स्वस्थ होने पर ही हमारे मन का सारा चमत्कार है। उसके अस्वस्थ होने पर मन की सब चेष्टा निरर्थक और निष्प्रयोजनीय है। शरीर के स्वस्थ होने पर ही हम यथेष्ट धर्म उपार्जन कर सकते हैं, अर्थ संचय कर सकते हैं, काम सुख भोग सकते हैं, और कहाँ तक कहें, मोक्ष के आनंद को भी, जो मनुष्य शरीर पाने का फल है, लाभ कर सकते हैं।

हिन्दू धर्म में आचार धर्म के चार लक्षणों के अंतर्गत माना गया है। प्रत्येक काम में आचार पर बल दिया गया है। मनुस्मृति में लिखा है—

वेद स्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चातुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।

धर्म के चार लक्षण हैं—वेद, स्मृति, सदाचार और जो अपनी आत्मा को प्रिय जान पड़े। हमारे देश में प्रत्येक काम में आचार प्रधान माना गया है। आह्निक कृत्यों में शरीर और उसके अंग प्रत्यंग की शुद्धि पर इतना बल दिया गया है कि विदेशी लोग या हमारे देश के नई रोशनीवाले हमारे आचार को अत्याचार कहकर पुकारते हैं। आचार की इतनी प्रशंसा की गई है कि यहाँ तक कह डाला गया है कि—

दुराचाराद्धिपुरुषो लोकेभवति निंदितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोल्पायुरेव च॥

आचाराद्विच्युतोविप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेणतुसंयुक्तः संपूर्ण फलभाग्भवेत्॥
सर्व लक्षणहीनोपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्धधानोनसूयश्च शतंवर्षाणि जीवति॥
एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयेगतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारञ्जगृहुः परम्॥

दुराचार से मनुष्य की लोक में निंदा होती है। वह दुःख का भागी होता है; उसे व्याधि भी होती है और अंत को वह अल्पायु होता है। आचार से भ्रष्ट होने पर ब्राह्मण को वेद फलदायक नहीं होता। आचारवान् मनुष्य संपूर्ण फल पाता है। सब धर्म के लक्षणों से हीन मनुष्य भी यदि सदाचारी हो और उत्तम श्रद्धा हो और निंदक न हो, तो सौ वर्ष पर्य्यन्त जीता है। मुनियों ने आचार धर्म के इस प्रभाव को देख इसे सब तत्वों का मूल मानकर ग्रहण किया है।

हमारे पूर्वजों ने न केवल आध्यात्मिक उन्नति पर ही लक्ष्य रखा, किंतु उनका लक्ष्य शारीरिक उन्नति पर भी आदिम काल से रहा है। मानव जीवन को चार आश्रमों में विभक्त करने और प्रथमाश्रम को विशेष कर शारीरिक और आत्मिक उन्नति में लगाने से उनका यही तात्पर्य्य था कि मनुष्य का जीवन आनंदमय बने और वह भूभार न हो। ब्रह्मचर्य्य का कठिन नियम, इंद्रिय-निग्रह, भैक्ष्यचरण, उपादान आदि का परित्याग पालन करते हुए गुरुकुल में रहकर विद्याध्ययन करना ऐसे काम थे जिनसे

मनुष्य एक आदर्श पुरुष बन सकता था। वे नियम सर्व-साधारण के लिये समान थे। श्रीमानों और महाराज-कुमारों के लिये उनका पालन करना वैसा ही आवश्यक था, जैसा एक दरिद्र भिक्षुक के लिये। गुरुकुल ही एक ऐसा स्थान था जहाँ भेदभाव छोड़कर धनी दरिद्र सभी के लड़के समान रूप से रहते थे। गुरुकुल उस समय एक ऐसी टकसाल था जहाँ मनुष्य ढाले या गढ़े जाते थे। हमारे शास्त्रों में गुरुकुल में बच्चों के भेजने के कृत्य को, उपनयन संस्कार या द्वितीय जन्म माना गया। और उनका ऐसा मानना ठीक भी था, क्योंकि यदि मनुष्य में शारीरिक और आत्मिक बल न हो, तो उसमें और पशुओं या असभ्य जातियों में अंतर ही क्या रह गया?

इसके कहने की विशेष आवश्यकता नहीं है कि शौच और आचार से मनुष्य देवता बन जाता है। इस कथन की पुष्टि आयुर्वेद और आधुनिक स्वास्थ्य शास्त्रविदों के अनुसंधानों से होती है। सभ्यता के बढ़ने के साथ ही साथ हम लोगों का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। हम लोगों में अपने पूर्वजों के वाक्यों पर श्रद्धा और भक्ति नहीं है और हमारा समाज ही हमको उनकी विधियों को पालन करने पर बाध्य कर सकता है। हमारे देश के मुखिया पंडितों का उनकी स्वार्थ-प्रियता के कारण समाज से अधिकार उठ गया है। शताब्दियों से भिन्न मताव-लंबी राजाओं के शासन में रहने से देश की दशा बदल गई है और बाल विवाह आदि कितनी कुप्रथाएँ चल पड़ी हैं।

इसके अतिरिक्त सभ्यता की वृद्धि के साथ ही साथ युद्धादि का होना भी बंद हो गया है जिसमें अनेक दुर्बल मनुष्यों का संहार हो जाया करता था। यही प्रधान कारण है कि हमारे देश भारतवर्ष में ऐसे मनुष्य, जिन्हें वास्तव में मनुष्य कह सकें, बहुत कम हैं।

यह बात प्रायः सभी लोग जानते हैं कि ऐसे रोगों के अतिरिक्त जो हमें पैतृक दाय में मिलते हैं अथवा शारीरिक दोषों से उत्पन्न होते हैं, कितने ही ऐसे भी रोग हैं जो हम लोगों को छूत से हो जाते हैं अथवा हमारी असावधानी से उनके कीटाणु हमारे शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। विसूचिका, चेचक, प्लेग आदि इसी प्रकार के रोग हैं। ऐसे रोगों से बचने के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि हम न केवल अपने शरीर ही को साफ और सुथरा रखें, किंतु शरीर की शुद्धि के अतिरिक्त हम अपने घरों को, जिनमें हम रहते हैं, साफ और सुथरा रखें; अपने पहनने के कपड़े को साफ रखें; और यही तक नहीं, हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हमारे पीने का पानी शुद्ध हो और हम शुद्ध वायु में रहें या विचरें।

मनुष्य के शरीर की बनावट भी क्या ही अपूर्व, कुतूहलजनक और अद्भुत है। देखो तो उसके छोटे से मस्तिष्क में कितना ज्ञान का भांडार है। उसके शरीर में चारों ओर फैले हुए पट्ठे कैसे उसके संकल्प के अनुसार शीघ्रता से गति करते हैं। त्वागिन्द्रिय का क्या कहना है। यह तो अपने ढंग की निराली

है। कैसी कोमल, परिवर्धित और सूक्ष्म छिद्रों से परिपूर्ण है। इसमें योजनों लंबी शिरा, धमनी आदि हैं जिनमें सदा रक्त और रस का प्रवाह बहा करता है। यह नित्य अपना रूप बदलती रहती है, सदा नई हुआ करती है। यह कितनी उपयोगी इंद्रिय है और कैसी अद्भुत तथा विस्मयजनक है! आँख, कान और नाक की बनावट भी आश्चर्य्यपूर्ण है। इसके अंग प्रत्यंग और कहाँ तक कहें, इसके एक एक रोम में आश्चर्य्य और कुतूहल कूट कूटकर भरा है। इंद्रियों का अपना अपना विषय ग्रहण करना कैसा अद्भुत है कि यों वे जो चाहें स्वभाव से करें, पर जहाँ तुम्हारे मन की उस विषय में प्रवृत्ति हुई कि तुम्हें वे अपने पंजे में फाँस लेती हैं और बिना तुम्हारा सत्यानाश किए पीछा नहीं छोड़तीं।

आपदां कथितं मार्गमिंद्रियाणामसंयम।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

इन इंद्रियों को और विशेषतः त्वगिंद्रिय को शुद्ध और उपयोगी रखना हमारे जीवन के लिये कितना आवश्यक है! हमारा कर्त्तव्य है कि यदि हम दीर्घजीवी होना चाहते हैं और संसार में रहकर अपने जीवन को सफल करना चाहते हैं, तो हम अपने शरीर को और उसके अंग प्रत्यंग की सफाई और उसे टिकाऊ बनाने का प्रयत्न करें। इसी का नाम आचार है, यही दीर्घजीवन प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है।

सफाई के अतिरिक्त हमारा आहार भी एक ऐसा पदार्थ है

जिस पर हमारा स्वास्थ्य अवलंबित है। जिस प्रकार आचार का पालन हमारी शारीरिक और मानसिक अवस्था को सुधारता है, ठीक उसी प्रकार हमारा आहार भी हमको दोनों प्रकार से लाभ पहुँचा सकता है। हमारे धर्मशास्त्रों में एक लंबी सूची भक्ष्य और अभक्ष्य पदार्थों की दी हुई है; और वैद्यक शास्त्र में प्रत्येक पदार्थ का गुण दोष जहाँ तक हो सका है, दिखलाया गया है। साधारण रीति से संसार के सारे भक्ष्य और भोज्य पदार्थों के गुण चार भागों में विभक्त किए जा सकते हैं। एक मेध्य, दूसरे अमेध्य, तीसरे वृष्य और चौथे अवृष्य। हमें भोजन के लिये प्रायः ऐसे पदार्थों को लेना चाहिए जो मेध्य और वृष्य हों; क्योंकि ऐसे ही पदार्थों के खाने से हमारे बल और बुद्धि दोनों की वृद्धि होती है। खाते समय हमें यह विचार रखना चाहिए कि भोजन जीवन को स्थिर रखने के लिये है, न कि जीवन भोजन करने के लिये। मनुष्य को समयानुसार भूख लगने पर भोजन करना चाहिए; और भोजन भी कैसा कि पेट में कुछ जगह रह जाय, तभी खाने से हाथ खींच ले।

कितने लोगों का स्वभाव है कि वे भोजन पर ऐसा टूटते हैं मानों उन्हें फिर जीवन भर में भोजन न मिलेगा; और इतना कसकर खा लेते हैं कि पेट में पानी के लिये भी कठिनाई से जगह रह जाती है। ऐसे लोगों का सिद्धांत यह होता है— 'अन्नं हि दुर्लभं लोके शरीरस्तु पुनः पुनः'। चाहे भूख हो या

न हो, खाना देखकर उनसे बिना खाए नहीं रहा जाता। और खाना भी कैसा कि नाक तक ठूस लेते हैं। ऐसे भोजन का परिणाम यह होता है कि उनकी जठराग्नि मंद पड जाती है और भोजन को ठीक रूप से पचा नहीं सकती। अथवा अजीर्ण या मंदाग्नि रोग हो जाता है; अथवा उन्हें अन्य कोई रोग हो जाता है। अच्छे वैद्यों का कथन है कि पैतृक और आगन्तुक रोगों के अतिरिक प्रायः सभी रोग अन्न के ठीक न पचने से ही उठ खड़े होते हैं। अधिक खाना सहज है, पर उसका पचाना कठिन है।

भोजन नियत समय पर मात्रानुसार करना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि तुम्हारा खाना विशेष चटपटा हो। भोजन शरीर की रक्षा के लिये है, न कि जीभ के स्वाद के लिये। कभी कभी स्वादिष्ट और चटपटे पदार्थों के खाने में कोई हानि नहीं होती; पर नित्य जीभ के स्वाद के लिये नई नई चीज़ों को ढूँढ़ते फिरना अच्छी बात नहीं है। यह तुम्हें अच्छी तरह देख लेना चाहिए कि तुम्हारे खाने की चीजें अच्छी तरह पक गई हैं कि नहीं। खाते समय खाने में शीघ्रता न करो और बैलों की भाँति निगलते मत जाओ। खाने को अच्छी तरह चबा चबाकर खाने से वह शीघ्र पच जाता है। तुम्हारे खाने के पदार्थों में ऐसी चीजें होनी चाहिएँ जिनमें वे द्रव्य मिले हों जिनका होना हमारे अंग प्रत्यंग को पुष्ट करने और जठराग्नि को बढ़ाने के लिये आवश्यक है। खाने पर टूटो मत और न इतना

खा लो कि तुम्हारे पेट में जगह न रह जाय। थोड़ी भूख बाकी रहने पर ही हाथ खींच लो। थोड़ा खाने से मनुष्य फुरतीला रहता है और काम करने में हाँपता नहीं। अधिक भोजन करने से मनुष्य का मस्तिष्क काम नहीं कर सकता।

पीने का पानी स्वच्छ होना चाहिए। खाते समय अधिक पानी पीना भी हानिकारक होता है। यद्यपि हमारे शास्त्रों में मद्यपान का निषेध किया गया है और मनु भगवान ने उसे पाँच महापातकों में एक महापातक माना है, पर फिर भी आज कल लोगों में मद्य की चाट बढ़ रही है। कितने ऐसे कुलों में, जिनमें मद्य को हाथ से स्पर्श भी नहीं किया जाता था, इस पिशाच ने अपना अड्डा जमाया है और लोग खुल्लम खुल्ला बोतलें लुढाने में तनिक भी लज्जा और संकोच नहीं करते। कितने लोग तो भ्रम या अपनी मूर्खता से इसे स्वास्थ्यवर्द्धक समझकर पीते हैं। सद्वैद्यों का मत है कि मद्य पीने से न केवल बुद्धि ही का नाश होता है, किंतु इससे मनुष्यों के हाथ और पैर में कंप रोग उत्पन्न होता है; रात को नींद नहीं आती। यदि दैवयोग से आती भी है; तो उसे भयानक दुःस्वप्न दिखाई पड़ते हैं; उसकी स्मरण शक्ति जाती रहती है; स्वास्थ्य का नाश हो जाता है और अंत में वह मर जाता है। हम कितने ऐसे आदमियों को बतला सकते हैं जिनकी अकाल मृत्यु अधिक मद्यपान से हुई है।

यद्यपि मादक द्रव्यों में सब से अधिक हानि पहुँचानेवाला

मद्य है, पर भाँग, गाँजा, चरस, अफीम आदि का सेवन भी स्वास्थ्य को कुछ कम हानि नहीं पहुँचाता। कितने लोग तो मादक पदार्थों का सेवन केवल इसलिये करते हैं कि वे अधिक भोजन कर सकें। ऐसे लोग यह नहीं समझते कि भोजन के पूर्व मादक द्रव्य का सेवन उन्हें दोहरी हानि पहुँचाता है।

हम यह नहीं कहते कि मादक पदार्थों में केवल अवगुण ही अवगुण है, गुण है ही नहीं। संसार में कोई पदार्थ ऐसा है ही नहीं जिसमें अवगुण ही अवगुण हों। संसार के सभी पदार्थों से मनुष्य लाभ उठा सकता है। विद्युत्-ऐसे भयानक पदार्थ से, जिसके स्पर्श मात्र से मनुष्य के प्राण नहीं बच सकते, कितना कितना लिया जाता है। दूध से बढ़कर उप योगी पदार्थ संसार में दूसरा हो ही नहीं सकता; पर वह भी यदि मनुष्य मात्रा से अधिक पी जाय, तो उपकारी होने की बात तो अलग रही, रेचक हो जाता है। प्रत्येक वस्तु की मात्रा होती है और मात्रानुसार ही वस्तु हितकारी और हानिकारक हुआ करती है। संखिया, धतूरा, गाँजा, भाँग, चरस, मद्य आदि जितने मादक द्रव्य हैं, सब मात्रानुसार औषध में काम आ सकते हैं। संसार में सभी अन्न और पान के लिये नहीं हैं जिन्हें मनुष्य अपनी भूख और प्यास को निवृत्ति के लिये सेवन कर सके; और न सब का उपयोग समान रूप और मात्रा से हो सकता है।

सादे भोजन और शुद्ध जल से बढ़कर कोई वस्तु मनुष्य के स्वास्थ्य के लिये उपकारी नहीं हो सकती, पर उनका सेवन भी मात्रानुसार ही होना चाहिए। पथ्य से बढ़कर मनुष्य के लिये कोई दूसरा काम नहीं है। आहार विहार में उसे पथ्या-पथ्य का सदा विचार रखना चाहिए। पथ्य से रहनेवाले को कभी ओषधि की आवश्यकता नहीं पड़ती; और कुपथ्यवाले को अच्छी से अच्छी ओषधि भी लाभ नहीं पहुँचा सकती।

जिस प्रकार शरीर को रोग से बचाने और स्वस्थ रखने के लिये हमें आहार और विहार में संयम करने की आवश्यकता है, उसी प्रकार हमें अपने मन को स्वस्थ रखने के लिये क्रोध, शोक, मोह, भय, घृणा आदि मानसिक विकारों या मनोवेगों को त्याग कर उनके स्थान में सुख, आनंद और शांति को अपने में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे हमारा मन क्षुब्ध और चलायमान न होकर स्वस्थ और शांत रहेगा। हँसने और हँसाने से भी मन में एक प्रकार की ताजगी आती है, उदासीन-ता जाती रहती है। कितने लोग संसार में ऐसे भी मिलते हैं जो हँसी मजाक, आमोद प्रमोद, नाच रंग आदि मनो-विनोद से न केवल पृथक् और उदासीन रहते हैं किंतु दिन रात गंभीर आकृति धारण किए रहते हैं। ऐसे लोगों को जो कभी कभी अपना मन बहलाने और खुश करने के लिये ऐसे आमोद और प्रमोद में सम्मिलित हुआ करते हैं, घृणा की दृष्टि से देखते हैं और उनकी खिल्ली उड़ाते हैं। इसमें कोई संशय

नहीं कि हमारे शास्त्रों में वैराग्य और उदासीनता की बड़ी प्रशंसा की गई है; पर ऐसे वैराग्य और उदासीनता से वह उदासीनता और वैराग्य कभी अभीष्ट नहीं है जिसे आज कल के लोग वैराग्य और उदासीनता समझते हैं। योग शास्त्र में दृष्ट और अनुश्राविक विषयों की तृष्णा के त्याग को वैराग्य कहा गया है—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा चयोनरः।
नहृष्यतिग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥

कितने लोगों के विषय में लोग कहा करते हैं कि अधिक काम करने से मर गए हैं। यह बात कई हेतुओं से ठीक नहीं प्रतीत होती। पहले तो यह बात कभी मानी नहीं जा सकती कि अधिक काम करने से कोई मर गया हो। इसके अतिरिक्त मरने का ठीक कारण न जान पाने पर लोग अंड बंड कारण गढ़ लिया करते हैं। कितनी जगहों में तो लोगों की मृत्यु का कारण वास्तव में आवेश, शोक, चिंता आदि होते हैं जिन्हें न जानकर लोग उसे अधिक काम करने से मान लेते हैं। यदि थोड़ी देर के लिये यह भी मान लिया जाय कि लोगों की मृत्यु का कारण अधिक काम करना हो सकता है, तो भी जितने लोग आलस्य, विलासप्रियता, अकर्मण्यता, निठल्लूपन आदि से मर जाया करते हैं, उतने लोग अधिक काम करने से नहीं मरा करते।

काम करना और आराम करना दोनों मात्रानुसार भला होता है। न तो इतना आराम करो कि काम में कभी हाथ ही न लगाओ और आलसी बनकर या तो पड़े रहो अथवा दिन रात निठल्लू की तरह घूमा करो या खेल कूद में अपना समय गँवाओ; और न दिन रात इतना काम ही करो कि एक पल भी विश्राम न करो और काम करते करते पागल हो जाओ। ऐसी दशा में जब आदमी काम करते करते थक जाता है, यदि वह हठपूर्वक काम करता ही जाय, तो वह काम बनाने की जगह उलटे बिगाड़ बैठता है, जिसके सुधारने में उससे दूना या चौगुना समय लगाना पड़ता है; और यदि न भी बिगड़े तो भी वह काम वैसा उत्तम नहीं होता। ऐसी अवस्था में यह विचार तो कभी अच्छा हो ही नहीं सकता। काम करना एक अच्छी बात है। मनुष्य को कभी निकम्मा न बैठना चाहिए। पर हमें उचित है कि जब तक हम काम करें, मन लगाकर और लाग से करें। किसी काम में इस प्रकार लिपटना कि दाना पानी, हँसना बोलना सब कुछ छोड़ दें, स्वास्थ्य को नाश करनेवाला है। ऐतरेय ब्राह्मण में नारद जी ने रोहित से कहा है—

नाना श्रान्तस्य श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुम ।
पापोनृषद्वरो जनः इन्द्रइच्चरतः सखा ॥
आस्ते भग आसीनस्य ऊर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।

शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥
चरन्वैमधुविन्दति चरन्स्वादुरुदुम्बरम् ।
सूर्यस्यपश्य श्रेमाणं योनतन्द्रयते चरन् ॥

छठा परिच्छेद

विद्या

विद्यानाम् नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्न गुप्तं धनं।
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्यागुरूणांगुरुः॥
विद्या बंधुजनो विदेशगमने विद्यापरं दैवतं।
विद्या राज सुपूज्यते नहि धनं विद्याविहीनः पशुः॥

संसार में मनुष्य के लिये विद्या से बढ़कर कोई उपकारी पदार्थ नहीं है। यह वह धन है जिसे न चोर चुरा सकता है, न भाई बाँट सकता है, न राजा छीन सकता है। और विशेषता यह है कि धन तो खर्च करने से घटता है, पर यह धन जितना ही व्यय किया जाय, उतना ही बढ़ता है। एक कवि कहता है—

न चौर चौर्यं न चराजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारी।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्॥

दूसरा कवि इसकी उपमा कल्पवृक्ष से देता हुआ कहता है—

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुक्ते
कांतेव चापि रमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥

विद्या माता के समान रक्षा करती है, पिता के समान हित के कामों में लगाती है, स्त्री के समान खेद को दूर करके सुख देती है, धन को बढ़ाती है, चारो ओर कीर्ति फैलाती है। कल्पवृक्ष के समान विद्या क्या क्या नहीं देती !

एक और कवि कहता है—

अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं विद्यते तव भारति ।
व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति संचयात् ॥

हे भगवति भारती, तेरा यह कोश अपूर्व है। कैसे आश्चर्य की बात है कि जितना ही इसमें से व्यय किया जाय, उतना ही यह बढ़ता है, और जितना ही इसका संचय किया जाय, उतना ही यह क्षय को प्राप्त होता है ।

लोग भ्रमवश यह समझते हैं कि भाषा का नाम ही विद्या है। किसी भाषा का लिखना पढ़ना और उसके व्याकरण और कोश को जान लेने से मनुष्य विद्वान् हो सकता है। पर वास्तव में यह उनकी भूल है। भाषा केवल शाब्दिक संकेत मात्र है जिसके द्वारा बोलनेवाला अपने आंतरिक भावों को दूसरे मनुष्य पर प्रकट कर सकता है। हम सब लोग अपने अपने देश की बोली बोलते हैं और उसी के द्वारा नित्य अपने भाव प्रकट करते रहते हैं। फिर तो सभी लोग विद्वान् हो सकते हैं और मूर्ख शब्द ही निरर्थक हो जाता है और अविद्या शब्द ही व्यर्थ हो जाता है। पर वास्तव विद्या शब्द-ज्ञान ही नहीं है ; कोई वस्तु कैसी है, सत्य या असत्य है इत्यादि ज्ञान का न

है। इस विद्या की प्राप्ति के तीन प्रधान स्थान हैं—आचार्य्य-कुल, पुस्तकें और विश्व। और अध्ययन, अध्यापन, स्वाध्याय और पठन, प्रकृति पर्य्यालोचन, परीक्षा तथा अनुभव उसके प्राप्त करने की क्रियाएँ हैं।

यद्यपि विद्या एक ऐसा पदार्थ है जो मनुष्य मात्र के लिये उपकारी है और मनुष्य मात्र उसके अधिकारी हो सकते हैं; पर न जाने क्यों प्राचीन काल से ही स्त्रियों और शूद्रों को इससे वंचित रखा गया है। मनु भगवान लिखते हैं—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौवासः गृहार्थोऽग्निपरिग्रहः॥

स्त्रियों के लिये केवल विवाह संस्कार ही के लिये वैदिक विधि है। उनका अपने पति की सेवा करना ही आचार्य्य कुल में रहना है और घर का काम करना ही अग्नि-परिग्रह है।

पर जब हम वेदों की ओर देखते हैं, तो उनमें इसके विपरीत पाते हैं। कितने वेद-मन्त्र स्त्रियों और शूद्रों के रचे हुए हैं। कवष, ऐलूष इत्यादि शूद्र और दासी-पुत्र ही थे; तथा लोमशा, लोपामुद्रा आदि स्त्रियाँ ही थी जो ऋग्वेद के कितने मन्त्रों की ऋषि हैं। इसके अतिरिक्त ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता महीदास के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे भी दासी-पुत्र ही थे और शूद्रा से उत्पन्न हुए थे। इससे यह निश्चय होता है कि उस समय में स्त्रियों और शूद्रों को विद्या पढ़ाने से वंचित नहीं रखा जाता था। यह बात और है कि उनके पढ़ाने के

लिये उतना जोर नहीं दिया जाता था, जितना द्विजों के बालकों के लिये लोग देते थे। पर यदि कोई पढ़ना चाहता था, तो उसे विद्या से वंचित नहीं रखा जाता था।

उपनिषदों में लिखा है—"मातृमान्पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेद" अर्थात् जिसके माता-पिता और आचार्य्य अच्छे होते हैं, वही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मनुष्य की शिक्षा माता की गोद से प्रारंभ होती है और उसके जीवन के साथ समाप्त होती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है कि भरद्वाज तीन आयु तक अर्थात् पचहत्तर वर्ष तक ब्रह्मचर्य ही धारण किए विद्याध्ययन करता रहा। वह बूढ़ा हो गया था और बुढ़ापे से उसकी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गई थीं। वह भूमि पर लेटा हुआ था। इंद्र उसके पास गया और बोला—'भरद्वाज, तुम यह तो बताओ कि इस चौथी आयु में तुम्हारा क्या करने का विचार है।' भरद्वाज ने कहा—'मैं तो इस चौथी आयु में भी ब्रह्मचर्य्य ही पालन करूँगा।' इस पर इंद्र ने भरद्वाज को तीन बड़े बड़े पहाड़ों को दिखलाकर उनमें से एक एक मुट्ठी निकालकर उसे दिखाकर कहा—भरद्वाज इतने बड़े वेद हैं। वेद अनंत हैं। तुमने अपनी तीन आयु में केवल इतना मात्र ही जान पाया है। इतने बड़े पहाड़ अभी तुम्हें जानने बाकी हैं। विद्या अनंत है। विद्या के समुद्र से मनुष्य को अब तक अनादि काल से लेकर केवल एक बिंदु मात्र प्राप्त हुआ है।

प्राचीन काल में यह प्रथा थी कि लोग अपने लड़कों को,

जब वे आठ वर्ष की अवस्था के होते थे, आचार्य्य-कुल में विद्याध्ययन के लिये भेज देते थे। जिस दिन बच्चा आचार्य्य-कुल में भेजा जाता था, उस दिन बड़ा उत्सव मनाया जाता था। इस उत्सव का नाम व्रतबंध या उपनयन संस्कार था। आचार्य्य उन बालकों को ब्रह्मचारियों के उपस्कारों से अलंकृत करता था और उनके कृत्य की शिक्षा देकर उन्हें अपने कुल में लेता था। वहाँ उन बालकों को कम से कम पच्चीस वर्ष की अवस्था तक रहना पड़ता था; और वहाँ रहकर वे आचार्य्य से अनेक शास्त्रों की शिक्षा ग्रहण करते थे। आचार्य्य पहले उन्हें मौखिक शिक्षा देता था जिसे श्रवण कहते थे। इसका दूसरा नाम अपरा विद्या भी था। वेदों से लेकर वेदांग तक की शिक्षा इसी अपरा विद्या के अंतर्गत थी। इसके अनंतर वह उन्हें फिर पढ़े हुए या शिक्षा दिए हुए विषयों को उपपत्तियों द्वारा स्पष्ट कराता था। इसे मनन कहा करते थे। फिर उसे उन्हीं उपपत्तियों द्वारा स्पष्ट किए हुए विषयों का परीक्षाओं द्वारा साक्षात् कराता था। इस अंतिम शिक्षा का नाम निदिध्यासन था। ये अंतिम दोनों प्रकार की शिक्षाएँ अपरा विद्या कहलाती थीं। इन त्रिविद्या शिक्षाओं की समाप्ति के साथ ब्रह्मचारियों की शिक्षा समाप्त हो जाती थी। शिक्षा की समाप्ति के उपरान्त ब्रह्मचारियों को गुरुकुल से अपने घर लौटना पड़ता था। इस संस्कार का नाम समावर्तन संस्कार था। ब्रह्मचारी आचार्य्य को गुरु-दक्षिणा दे अपने अपने घर को

लौटते थे। उस समय ऐसे ब्रह्मचारियों को, जो गुरुकुल से लौटकर अपने घर को आते थे, स्नातक कहा करते थे। स्नातक तीन प्रकार के होते थे—विद्या स्नातक, व्रत स्नातक और विद्या व्रतस्नातक। इनके अतिरिक्त कितने ऐसे ब्राह्मचारी भी होते थे जो आजन्म गुरुकुल ही में रहकर विद्याध्ययन किया करते थे और अपना सारा जीवन अध्ययन के अर्पण कर देते थे। ऐसे लोग नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाते थे। एक एक ऋषि के आश्रम में सहस्रों ब्रह्मचारी विद्याध्ययन करते थे। इसका पता हिंदुओं और बौद्धों के ग्रंथों को देखने से चलता है। स्वयं महात्मा बुद्ध के समय में आर्य्य आलार, उद्यन, बिल्वकश्यप आदि ऐसे महात्मा थे, जिनके आश्रमों में कई सहस्र विद्यार्थी विद्याध्ययन किया करते थे।

इसके बाद बौद्धों का समय आया। उस समय आचार्य्य कुल बदलकर विहार रूप में परिणत हो गए। विहारों में विद्याप्रेमी महाराजाओं ने बड़ी बड़ी जागीरें लगा दीं। उनके व्यय का प्रबंध राज्य की ओर से होने लगा। बड़े-बड़े विद्यालयों की स्थापना हुई जहाँ सहस्रों विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। इन विद्यालयों में तक्षशिला का विद्यालय सब से प्राचीन था। भारत का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ चाणक्य, जिसने नंद वंश का नाश कर चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठाया था, इसी विद्यालय का स्नातक था। इन विहारों और विद्यालयों की स्थिति का पता चीनी यात्रियों के यात्रा-विवरणों से

भले प्रकार चलता है। देश के दुर्भाग्यवश विदेशियों के आक्रमणों के कारण इन विद्यालयों का ध्वंस हो गया। चारों ओर देश में अशांति फैल गई। हिंदुओं पर अत्याचार होने लगा और देश में प्राचीन प्रथा के उठ जाने से विद्या का ह्रास हो गया।

इस आपत्काल में कितने विद्वानों ने कान्यकुब्ज, अयोध्या, मिथिला आदि देशों में अपने धन से दस पाँच विद्यार्थियों का भरण पोषण करते हुए विद्या का दान देना प्रारंभ किया। यह प्रथा किसी न किसी रूप में अब तक इन स्थानों में देखी जाती है। इन्हीं पंडितों के पढ़ाए हुए एक विद्यार्थी ने अपनी योग्यता से दिल्ली के सम्राट् शाहजहाँ को मुग्ध कर दर्भंगा के बड़े राज्य का अधिकारपत्र लाकर अपने गुरु के चरणों पर अर्पण किया, जो इस देश के विद्यार्थियों के आचार्य्य-प्रेम का जाज्वल्यमान उदाहरण है।

इधर देशी शिक्षा-प्रणाली के नाश होने के साथ ही साथ फारसी और अरबी भाषाओं के पठन पाठन की प्रणाली चली। सब राजकीय काम-काज देशी भाषाओं में न होकर फारसी भाषा में होने लगे। पंडितों का स्थान मौलवियों ने लिया। विद्यार्थियों को पुत्रवत् शिक्षा देने की जगह वे उनका दंड से शासन करने लगे। हिंदुओं ने विदेशी भाषा पढ़ने का विरोध किया। परिणाम यह हुआ कि संस्कृत भाषा के पठन-पाठन की प्रथा केवल इने गिने ब्राह्मण पुरोहितों में रह गई और फारसी

भाषा केवल कुछ कायस्थ या और लोगों को छोड़, जिन्हें राज-कीय नौकरियाँ करनी होती थीं, कोई नहीं पढ़ता था। परिणाम यह हुआ कि देश से विद्या उठ गई और उसके स्थान में इने गिने लोगों के अतिरिक्त सब ने लिखना पढ़ना भी छोड़ दिया। चारों ओर अविद्या का राज्य हो गया। ऐसे समय के बड़े बड़े लोग, जिन्होंने इतिहास में बड़े बड़े काम किए और अनेक युद्धों और लड़ाइयों में विजय प्राप्त की, प्रायः सब के सब अनपढ़ थे।

जिस समय अंग्रेज लोग इस देश में आए, चारों ओर फारसी का दौर दौरा था। संस्कृत भाषा का प्रचार केवल काशी आदि विद्यापीठों में अथवा गाँवों में पण्डितों के घरों में रह गया था, जहाँ ब्राह्मणों के लड़के हाथों में गीता लिए, व्याकरण के सूत्रों को घोखते या शास्त्रों को पढ़ते हुए देखे जाते थे। ईस्ट इंडिया कंपनी ने बहुत दिनों तक तो यहाँ के लोगों की शिक्षा पर ध्यान नहीं दिया। सब से पहले जिनका ध्यान यहाँ के लोगों की शिक्षा की ओर गया, वे पादरी लोग थे। उन लोगों ने अपने धर्म के प्रचार के लिये यहाँ के भिन्न भिन्न नगरों में पाठशालाएँ स्थापित कीं और उनमें यहाँ के लोगों को अंग्रेजी भाषा में शिक्षा देना प्रारंभ किया। ईस्ट-इंडिया कंपनी ने यदि कुछ थोड़ा बहुत किया भी, तो वह यह था कि वारन हेस्टिंग्स ने सन् १७८२ में कलकत्ते में एक अरबी का मदरसा और सन् १७९१ में बनारस संस्कृत कालेज स्थापित किया। इसी बीच में विलायत में मि०

विलबरफोर्स आदि महानुभावों ने भारतीयों की शिक्षा के लिये आंदोलन मचाया और सालों परिश्रम करके बड़ी कठिनाई से लड़ झगड़कर यहाँ के लोगों में विद्या और विज्ञान के प्रचार के लिये सन् १८१३ में एक लाख रुपए का व्यय स्वीकार कराया।

पादरियों की पाठशालाओं में पढ़कर कितने लोगों को कंपनी की अच्छी नौकरियाँ मिल गईं। इस लालच से कलकत्ता आदि नगरों के आस पास के लोगों में नौकरी के लालच से अंग्रेजी पढ़ने की ओर रुचि हो चली। पादरियों ने उधर अंग्रेजी शिक्षा का मार्ग साफ़ कर रखा था और मद्रास, बंबई, कलकत्ता, सिरामपुर आदि नगरों में कालिज खोल दिए थे, जिनमें अंग्रेजी भाषा की अच्छी पढ़ाई होती थी। इसी बीच में भारतीयों की शिक्षा-प्रणाली के विषय में विवाद उपस्थित हुआ। कुछ लोग तो इस पक्ष में थे कि भारतीयों को पूर्वीय भाषा में शिक्षा दी जाय; और कुछ लोगों का यह पक्ष था कि शिक्षा अंग्रेजी भाषा ही में देना लाभदायक होगा। पहले तो उन लोगों का पक्ष प्रबल रहा जो लोग पूर्वी भाषा में शिक्षा देने के पक्षपाती थे। पर कंपनी के बड़े बड़े प्रभावशाली कर्मचारी अंग्रेजी भाषा में शिक्षा के पक्षपाती थे; इसी लिये उनका पक्ष प्रबल हो गया। सन् १८३५ में लार्ड मेकाले ने, जो उस समय काउंसिल के सभासद तथा शिक्षा-संमिति के सभ्य थे, एक व्यवस्था सरकार में लिखकर भेजी और उसमें जहाँ तक उनसे बन सका, अंग्रेजी भाषा द्वारा शिक्षा देने पर जोर दिया। इसके

अनंतर सरकार ने एक रिजोल्यूशन जारी किया जिसमें उसने यही निर्धारण किया कि अंग्रेजी भाषा के ही द्वारा शिक्षा दी जाय।

सन १८३६ में संयुक्त प्रांत का प्रदेश बंगाल हाते से पृथक् किया गया। पादरियों के उद्योग से भारतवासियों में नौकरी के लालच से शिक्षा की ओर रुचि उत्पन्न हो गई थी, जिसे देखकर गवर्नमेंट ने भी गाँवों में उनकी शिक्षा के लिये स्कूल और प्रधान नगरों में कालिज खोल दिए। इधर बंबई प्रांत के गवर्नर स्टुअर्ट एलफिन्स्टन और संयुक्त प्रांत के लफटेंट गवर्नर मि० टामसन ने यहाँ के लोगों को देश-भाषा में शिक्षा देने का समुचित प्रबंध किया और कितनी ही तहसीली और हलका-बंदी पाठशालाओं का स्थापन किया। शिक्षा का जो द्वार सैकड़ों वर्षों से बंद था, फिर से खुल गया। परिणाम यह हुआ कि सन् १८५४ में इस देश में चौदह कालिज हो गए। उस समय उन विद्यार्थियों की संख्या, जो कालिजों और देशी पाठशालाओं में शिक्षा प्राप्त करते थे, ४०००० थी।

भारतवासियों की विद्या की ओर रुचि देख लार्ड हालीफाक्स महोदय ने, जो उस समय कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के सभापति थे, सन १८५४ में यह रिपोर्ट उपस्थित की कि भारतवासियों की शिक्षा का समुचित प्रबंध किया जाय और प्रेसीडेंसी नगरों में विश्वविद्यालय स्थापित करके उनमें नियमबद्ध शिक्षा दी जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि सन १८५७ में कलकत्ते, बंबई और मद्रास के विश्वविद्यालयों की स्थापना हो गई

और यहाँ के लोगों को नियमबद्ध शिक्षा मिलने लगी। थोड़े ही दिनों में शिक्षा का प्रचार इतना बढ़ा कि सरकार को विवश होकर सन १८८२ में पंजाब में और १८८७ में इलाहाबाद में भी विश्वविद्यालय स्थापित करने पड़े।

यद्यपि स्त्री शिक्षा पर अंग्रेजों का ध्यान पहले ही से था और सन १८४६ में लार्ड डेलहौजी ने शिक्षा समिति का ध्यान स्त्री शिक्षा की ओर आकर्षित किया था, पर कई अड़चनों के कारण देश में उसका उचित प्रचार न हो सका। सन् १८७१ में यहाँ केवल १३४ कन्या पाठशालाएँ थीं जिनमें १७६० कन्याओं को शिक्षा मिलती थी। सन् १८८२ में सरकार ने स्त्री शिक्षा पर विशेष ध्याना दिया और अब भारतवर्ष में १५२६२ कन्या पाठशालाएँ हैं, जिन में ६०७२८३ कन्याएँ शिक्षा पाती हैं।

शिक्षा का प्रचार अंगरेजी सरकार की कृपा से अब इतना बढ़ गया है कि भारतवर्ष में अब बहुत कम ऐसे स्थान रह गए हैं जहाँ बालकों और बालिकाओं की शिक्षा के लिये कोई न कोई पाठशाला न हो। इस समय पाँच विश्वविद्यालय हैं जिनके अधीन १४५६१८ छोटी और बड़ी पाठशालाएँ हैं जिनमें ६८४२८२६ बालकों और बालिकाओं को अंगरेजी, संस्कृत, अरबी, फारसी, विज्ञान, कला-कौशलादि की शिक्षा दी जाती है। इनके अतिरिक्त ३६७१५ ऐसी पाठशालाएँ हैं जिनमें निजी रूप से ६७५३११ बालकों और बालिकाओं को संस्कृत, अरबी, फारसी

आदि भाषाओं में शिक्षा मिलती है। इन पाठशालाओं का ब्योरा इस प्रकार है—

	संख्या	विद्यार्थी
कालिज अंग्रेजी	१२५	३७५२०
„ संस्कृत, अरबी	२४	१६६६
„ कानून	२१	४०५५
„ आयुर्वेद	४	१६७६
„ इंजीनियरी	४	१२११
„ शिक्षा	१३	७०३
„ कृषि	३	१५६
„ पशुचिकित्सा	२	१७२
„ व्यापार	१	६२
	योग १६६	४७२५४
बालकों के लिये		
अंग्रेजी हाई स्कूल	१३४६	४६६१५६
„ मिडिल स्कूल	२६७४	३१६४६५
देशी मिडिल स्कूल	२२५६	२२५६६०
बालिकाओं के लिये		
अंग्रेजी हाई स्कूल	१५७	२१३१२
„ मिडिल स्कूल	२१०	१६५६१
देशी मिडिल स्कूल	२०३	२१६२५
	योग ६८४६	१०७१११२

आरंभिक पाठशालाएँ		
बालकों के लिये	११६६५०	४६७३४१६
बालिकाओं के लिये	१४७२२	५४४७५५
योग	१३१३७२	५५१८६७१
विशेष शिक्षा के लिये पाठशालाएँ		
अध्यापकों के लिये	६१६	१४६६६
अध्यापिकाओं के लिये	८८	१७४१
दस्तकारी ,,	१०	१३६७
कानून ,,	१	२८
आयुर्वेद ,,	२४	३७१८
इंजीनियरी ,,	१६	८१६
औद्योगिक	२३६	१२७५१
व्यापार	७६	२७६८
कृषि	१	११
रिफार्मेटरी	७	१२०२
अन्य विषयों के लिये	६१२०	१६६५८८
योग	७२०१	२७५७८८
सर्वयोग	१४५६१८	६८४२८३६
निजी—		
उच्च शिक्षा के लिये		
अरबी, फारसी	१५२४	३७२७८
संस्कृत	१२४४	२२०६८

अन्य भाषाओं के	१६	८५६
प्रारंभिक—		
देशी भाषा; बालकों के लिये	२५७७१	३५७२२८
बालिकाओं के लिये	३६४	११४१४
कुरान; बालकों के लिये	६६५७	१४५४५६
बालिकाओं के लिये	१६००	३०६८०
अन्य पाठशालाएँ लड़कों के लिये	२१४१	६६०८२
लड़कियों के लिये	६८	३६१६
योग	३६७१५	६७५३११
सर्वयोग	१८५३३३	७५१८१४७

शिक्षा का इतना प्रचार होने पर भी अब तक भारतवर्ष में शिक्षितों की संख्या, जो लिख पढ़ सकते हैं, प्रति सौ पुरुष ६ और प्रति सौ स्त्री एक से अधिक नहीं है जिससे यह स्पष्ट है कि हमारे देश में अब तक शिक्षा का यथेष्ट प्रचार नहीं हुआ है। स्वर्गीय मिष्टर् गोपाल कृष्ण गोखले यह देख अपने जीवन-काल में कई वर्ष से बड़े लाट की व्यवस्थापिका सभा में प्रारंभिक शिक्षा को आवश्यक बनाने के लिये राज नियम बनाने के विषय में बहुत से ज़ोर दे रहे थे; और ऐसे राज-नियम का चिट्ठा भी उक्त सभा में उपस्थित किया था; पर अन्य सभ्यों के सहमत न होने के कारण विशेष सम्मति उनकी ओर न हो सकी और वह चिट्ठा राज-नियम न बन सका।

हम कई कारणों से यह स्वीकार नहीं कर सकते कि संप्रति की शिक्षा से सभी बालक विद्वान् हो सकते हैं। इसमें कुछ संशय नहीं कि इन पाठशालाओं में पढ़े हुए कितने ऐसे सपूत निकलते हैं, जिन्हें हम वास्तव में विद्वान् कह सकते हैं। पढ़ना लिखना, कुछ गणित और व्याकरण जान लेने मात्र से या मौखिक या आनुमानिक विज्ञान को समझ लेने से कोई पंडित नहीं हो सकता। पंडित होने के लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन नामक त्रिविधि शिक्षा की आवश्यकता है। पुस्तकों द्वारा किसी विद्या का पढ़ना और उससे विद्वान् होने की आशा रखना उससे कम हास्यजनक नहीं, जैसे कोई खाट पर अपने घर में आराम से पड़ा हुआ हाथ में वानस्पत्य शास्त्र को लेकर बिना उपवन में काम किए हुए बागबानी की विद्या सीखना चाहता हो। इसके अतिरिक्त हम विद्वान् बनने के लिये विद्याएँ पढ़ते भी नहीं। पहले से हमारा मुख्य उद्देश्य नौकरी प्राप्त करना होता है। हम यह नहीं समझते कि विद्या की आवश्यकता मनुष्य को केवल जीविका के लिये नहीं है। मूर्ख और अनपढ़ मनुष्य बिना पढ़े लिखे अपनी जीविका चला सकते हैं और कितनी दशाओं में पढ़े लिखों से अच्छी चला सकते हैं। विद्या की मुख्य आवश्यकता मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिये और अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिये है।

समय के हेर फेर से शिक्षा प्रणाली में इतना अंतर पड़

गया कि जो लोग आचार्य्य पर इतना भरोसा करते थे कि अपने छोटे बालक को शिक्षा के लिये सहर्ष ले जाकर उनके आश्रम में छोड़ आते थे, अब वे लोग एक क्षण के लिये अपने बालकों को अपनी आँख से ओझल नहीं कर सकते। अब वैसे आचार्य्य भी नहीं हैं जो देश के बालकों को अपने लड़कों के समान पालन पोषण करते हुए शिक्षा दें। आज कल न अध्यापकों पर विद्यार्थियों की श्रद्धा भक्ति है और न विद्यार्थी पर अध्यापकों का प्रेम। आचार्य्य और शिष्य का वह घनिष्ट संबंध नष्ट हो गया है जो प्राचीन काल में था। अब विद्यार्थी न अपने आचार्य्यों के जीवन को अपना आदर्श बनाते है और न अध्यापकों का जीवन ही इस योग्य होता है जिसे कोई अपना आदर्श बनाकर अभ्युदय प्राप्त कर सके। शील की शिक्षा का तो आज कल एक प्रकार से अभाव सा है। ये ऐसी त्रुटियाँ हैं जिनका दूर होना असम्भव सा है। कितने लोगों ने गुरुकुल, ऋषिकुल, ब्रह्मचर्य्याश्रम आदि खोलकर यह प्रयत्न किया है कि प्राचीन काल के आचार्य्य और विद्यार्थियों में खोया हुआ संबंध स्थापित हो जाय और ऐसे स्नातक उत्पन्न हों जिनमें विद्या तो आजकल के विद्वानों की सी हो और उनका शील और आचार प्राचीन काल के स्नातकों के समान पर। आज तक उन विद्यालायों से कोई स्नातक ऐसा नहीं निकला जो उपर्युक्त गुण-संपन्न हो।

जिस प्रकार विद्या पढ़ने से आती है, उसी प्रकार पढ़ाने

से उसकी रक्षा होती है। पढ़ी हुई विद्या यदि अभ्यास द्वारा सुरक्षित न रखी जाय तो वह थोड़े ही काल में क्षय को प्राप्त हो जाती है। यह समझकर पूर्व काल के विद्वानों ने इसे एक ऋण समझा था और ऋषि लोग विद्याध्ययन के अनंतर अन्य विद्यार्थियों को विद्यादान देना अपना परम कर्तव्य समझते थे। आजकल के लोग जितनी विद्याओं को कालेज या पाठशालाओं में पढ़ते हैं, उन लिखने पढ़नेवालों को छोड़ बहुत कम ऐसे हैं जो अन्य विद्याओं का अभ्यास कालेज आदि छोड़ने पर करते होंगे। प्रायः आजकल के पठित विद्यार्थियों में, जिनके पढ़ने का मुख्य उद्देश्य नौकरी या सेवा वृत्ति करना होता है, अधिकांश तो बीच में ही छोड़ बैठते हैं। शेष जो विद्या लाभ करते हैं, उनमें कुछ तो सरकारी नौकरियाँ लाभ करते हैं या वकालत आदि कामों में लगते हैं। शेष अपने घर पर कृषि कर्म या अन्य वृत्ति में लगते हैं जहाँ रहकर उन्हें समस्त अधीत विद्या, जिनका उनके उस काम में कोई उपयोग नहीं पड़ता, विस्मृत हो जाती है। हमने कितने ग्रेजुअटों को स्वयं देखा है कि कालेज छोड़ने पर उन्हें बीस वर्ष के बाद भाषा को छोड़ सब कुछ भूल गया है। शिक्षकों का, जो पाठशालाओं और कालेजों में नौकरी करके शिक्षा देते हैं, मुख्य उद्देश्य द्रव्योपार्जन होता है; विद्या का प्रचार करना और देश में विद्या फैलाना उद्देश्य नहीं होता। यदि हमारे देश के विद्वान अपने मन में यह ठान लें कि उनकी विद्या उनकी

जीविका के लिये नहीं है, किंतु इसलिये है कि समाज के दूसरे मनुष्यों को उससे लाभ पहुँचे और वह कम से कम अपने देश के दस बच्चों को नित्य विद्यादान दें, तो थोड़े ही काल में देश में विद्या का समुचित प्रचार हो सकता है और प्रत्येक मनुष्य का घर विद्यालय बन सकता है।

विद्या की प्राप्ति का दूसरा साधन पुस्तक है। विद्यालयों और पाठशालाओं से तो हम तभी लाभ उठा सकते हैं जब हम उनमें विद्यार्थी बनकर रहें और शिक्षा प्राप्त करें; पर पुस्तकों से हम सदा विद्या लाभ कर सकते हैं, चाहे हम विद्यालय के विद्यार्थी हों या किसी व्यापार में लगे हों।

एक विद्वान् का कथन है कि पुस्तकें ऐसी शिक्षक हैं जो हमें बिना मारे पीटे शिक्षा देती हैं। वे कटु वाक्य नहीं कहतीं और न क्रोध करती हैं। वे हमसे मासिक वेतन भी नहीं माँगती हैं। तुम दिन रात जब उनके पास जाओ, वे सोती नहीं। यदि तुम उनसे कुछ पूछो तो वे छिपाती नहीं। यदि तुम भूल जाओ तो वे कुडबुड़ाती नहीं। यदि तुम अज्ञानी हो तो वे तुम पर हँसती नहीं। इसलिये ज्ञान के भण्डार पुस्तकालय सब धनों में बहुमूल्य धन हैं; और संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो उसकी तुलना कर सकता हो। इसलिये जो पुरुष सत्य, ज्ञान, विज्ञान, धर्म और आनंद का सच्चा जिज्ञासु बनना चाहता हो, उसके लिये यह परमावश्यक है कि वह पुस्तकों का प्रेमी बने।

हिंदू शास्त्रों में पुस्तकों के दान का बड़ा माहात्म्य है। वे पुस्तकों की देव-प्रतिमाओं के तुल्य पूजा और आदर करते हैं। प्राचीन काल में पुस्तकें इस देश में बड़ी दुर्लभ समझी जाती थीं। बड़ी सेवाशुश्रूषा और दाम से मिलती थीं। उस समय छापे की तो बात ही क्या है, कागज भी नहीं थे। पुस्तकें भोजपत्रों की छाल और ताड़ आदि के पत्तों पर लिखी जाती थीं। आजकल की पुस्तकों की भाँति न तो वे छोटे दल की होती थीं और न उनकी उतनी ऐसी जिल्दें होती थीं। वे बेडौल, भारी और भद्दी होती थीं और तागों में माला की तरह गुथी रहती थीं जो देखने में पत्तों का ढेर मालूम पडती थीं। कागजों के समय की भी हस्तलिखित पुस्तकों का यही हाल था। जो पुस्तकें अब छपने पर सेर सवा सेर होती हैं जिसे हम सुगमता से सुखपूर्वक हाथों में लेकर खाट पर लेटकर और मोढ़े पर बैठ कर पढ़ सकते हैं, वह उस समय में एक मनुष्य का बोझ होती थी और उसके एक एक पत्रे को हाथ में लेकर पढ़ना पड़ता था। उनके मूल्य भी इतने अधिक थे कि साधारण मनुष्य उन्हें संग्रह करने की तो बात ही और है, एक पुस्तक भी नहीं खरीद सकता था। मैंने अपने पितामह से सुना था कि उनके बचपन में श्रीमद्भागवत की एक पुस्तक पाँच सौ रुपए को बिकी थी। जितने मूल्य में उस समय एक पुस्तक कठिनाई से खरीदी जाती थी, उतने में आजकल एक अच्छा सा छोटा पुस्तकालय संग्रह किया जा सकता है।

आज कल छापे की कलों की अधिकता से पुस्तकों की इतनी अधिकता है और वे इतनी सस्ती हैं कि साधारण से साधारण पुरुष यदि चाहे तो अपने आवश्यक कामों में से दो चार पैसे बचा कर उन्हें खरीद सकता है। प्राचीन काल की अपेक्षा आज कल पुस्तकों की संख्या भी अधिक हो गई है। बहुत प्राचीन काल में केवल वैदिक, दर्शन कुछ शास्त्रों और पुराण काव्य आदि के ग्रंथ थे; और वे भी सिवाय बड़े बड़े राजदरबारों या मठों के अन्यत्र एकत्र नहीं मिलते थे। पीछे भाषा के ग्रंथकारों ने भक्ति आदि विषय के ग्रंथों को कविता में लिखा जिनमें सूर और तुलसीदास के ग्रंथ सर्व-प्रधान थे। केशव ने शृंगार रस की कविता पर विशेष ज़ोर दिया और उसके बाद के कवियों ने शृंगार और नायिका भेद पर कविता लिखना प्रारंभ किया। पर सब के सब ग्रंथ प्रायः कविता या पद्य में थे। गद्य ग्रंथ लिखने की प्रथा बिलकुल नही थी। इस पर ग्रंथों के मूल्य इतने अधिक थे कि सर्वसाधारण न उन्हें खरीद कर संग्रह ही कर सकते थे और न उन्हें एक आध को छोड़ विशेष ग्रंथों के देखने का अवकाश ही मिलता था। पर आज कल नवीन सभ्यता और छापे की कल के फैलने तथा कागज की सुलभता के कारण न केवल प्राचीन पुस्तकों का ही मिलना सुलभ हो गया है, किंतु देश के लेखकों की बदौलत अब गद्य और पद्य के अनेक ग्रंथ उपन्यास, नाटक, विज्ञान आदि उपयोगी विषयों पर इतने अधिक

हो गए हैं, कि कोई मनुष्य उन्हें संग्रह भले ही कर ले, पर उन सब को वह सहस्र वर्ष की आयु पाने पर भी एक वार देख नहीं सकता।

पुस्तकालयों से जितना लाभ अन्य देश के लोग उठाते हैं, उतना लाभ हमारे देश में लोग नहीं उठा सकते। मजदूरों और अन्य व्यवसाय करनेवालों की तो बात ही अलग है; उनमें तो शिक्षा का नितांत अभाव है ही; पर पढ़ने लिखने का व्यवसाय करनेवालों में भी बहुत कम ऐसे निकलेंगे जो अवकाश के समय पुस्तकों के देखने से लाभ उठाते हों। हम पूर्व ही लिख चुके हैं कि हमारे देश में शिक्षा प्राप्त करने का मुख्य प्रयोजन नौकरी और विशेष कर सरकारी नौकरी करना होता है। पर सरकारी नौकरों के सिर पर इतना काम है कि यदि वे उसे ठीक ठीक करना चाहें तो अकेले कर नहीं सकते। इसके अतिरिक्त हमारे देश के लोग इतने आलसी और समय को व्यर्थ खोनेवाले हैं कि वे अपने अवकाश का थोड़ा भी अंश पुस्तकों को देखने में लगाना नहीं पसंद करते। अंग्रेज जाति से हमारे देश के लोग दुर्गुण भले ही सीख लें, उनकी रहन सहन का भले ही अनुकरण करें, भक्ष्याभक्ष्य, मद्यपानादि स्पृश्यास्पृश्य के हाथों का भले ही खा पी लें, पर उनके सद्गुणों का वे कदापि अनुकरण करना नहीं जानते। उनका समयानुसार काम करना, विद्या-प्रेम आदि ये जल्दी सीख नहीं सकते। अंग्रेजों को देखो; उन्हें हिंदुस्तानियों से कम

काम नहीं रहता; पर नियमित रूप से काम करने के कारण वे अपने सब कामों को प्रतिदिन भुगता देते हैं; और यह सब करते हुए भी वे नित्य ऐसे खेल भी खेलते है जिनसे उनका स्वास्थ्य अच्छा रहे। और कुछ समय निकाल कर वे अपनी रुचि के अनुसार अपनी और दूसरी भाषाओं की पुस्तकें भी देखते हैं। हम कितने ऐसे यूरोप निवासियों को जानते हैं, जो हिंदुस्तान में कलक्टरी और कमिश्नरी के भारी कामों को करते हुए भी इतिहास, भाषा, विज्ञान आदि में अपने अध्ययन से अद्वितीय विद्वान् हो गए हैं। हमारे देशवाले जो उच्च पद पर पहुंच गए हैं, उनमें बहुत कम ऐसे हैं जिन्हें विद्या से प्रेम हो और जो अपना थोड़ा भी समय विद्योपार्जन और पुस्तकों के अध्ययन में लगाते हों। वे लोग नौकरी प्राप्त कर लेना ही अपनी पूर्ण कामना समझते हैं और अपना समय प्रायः सोने या निठल्लुओं की तरह बैठकर काटने या पलंग पर पड़कर खाने में बिताते हैं।

हमारे देश के लेखकों की यह दशा है कि उनमें अपनी मातृभाषा का प्रेम नहीं है। यदि वे कुछ लिखते भी हैं तो अंग्रेजी में लिखते हैं। यदि वे अपने यहाँ के किसी शास्त्र या ग्रंथ का अनुवाद भी करते है तो अंग्रेजी भाषा में करते हैं। उन विद्वानों में जिनमें विद्या और योग्यता है, एक आध को छोड़ बहुत कम ऐसे हैं जिन्हें अपनी मातृभाषा से प्रेम है। हिंदी के लेखकों की अवस्था भी शोचनीय है। पहले तो हिंदी में

अच्छे लेखकों का सर्वथा अभाव है; और लेखकों में बहुत कम ऐसे हैं जिन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की हो या जिन्होंने स्वाध्याय से अपनी योग्यता बढ़ा ली हो; और जो हैं भी, वे लोग प्रायः उपन्यासों या अन्य ग्रंथों का अनुवाद बँगला, मराठी, गुजराती आदि से किया करते हैं। मौलिक लेखकों का सर्वथा अभाव है। हम अनुवाद करना बुरा नहीं समझते; पर अनुवाद ऐसे ग्रंथों का होना चाहिए जिनसे देश को लाभ पहुँचे। अंग्रेजी भाषा में ज्योतिष, दर्शन, विज्ञान, भूगर्भ, इतिहास, शासन-शिक्षा, भाषातत्त्व, पुरातत्त्व, यात्रा, भूगोल, गणित आदि विषयों के बड़े बड़े महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं; पर आज तक हमारे देश के किसी विद्वान् को यह साहस नहीं हुआ कि उनका अनुवाद करके अपनी मातृभाषा के भांडार को भरते। बड़ी विषम अवस्था यह है कि जो जानते हैं, वे लिखते नहीं हैं, और जो लिखते हैं, वे जानते ही नहीं।

आज कल के लेखकों और ग्रंथ-कर्त्ताओं का ग्रंथ लिखने में यह कभी उद्देश नहीं होता कि वे ऐसा ग्रंथ लिखें जिससे मनुष्य समाज को या उनके देशवालों को लाभ पहुँचे। उनका प्रयोजन किसी न किसी प्रकार पृष्ठों को रंग कर रुपया हथियाना होता है और प्रायः यही उद्देश्य हमारे देश के ग्रंथ प्रकाशकों का होता है। पढ़नेवालों को लाभ हो या हानि, उन्हें टका वसूल करने से काम है। लोभ ने चारों ओर अपना अधिकार जमा लिया है। यही प्रधान कारण है कि सूर और

तुलसी के समय के बाद आज तक ऐसे ग्रंथ नहीं लिखे गए हैं जो उत्तमता में उनकी एक कला के भी बराबर हों।

हम यह नहीं कहते कि अच्छे ग्रंथ हैं ही नहीं। मेरा अभिप्राय केवल यही है कि हमारी भाषा में अच्छे ग्रंथों की बहुत कमी है जिस पर आज कल के विद्वानों और लेखकों को ध्यान देना चाहिए। जीवन भर में कोड़ियों व्यर्थ की पुस्तकें लिखने से एक अच्छी पुस्तक लिखना अच्छा है। कविवर विहारीलाल का नाम आज तक केवल उनके सात सौ दोहों के कारण ही अमर है।

पढ़नेवाले को पुस्तकें पढ़ते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि केवल पुस्तकों को हाथ में लेकर उनके पृष्ठों की पंक्तियों का नापना ही पर्य्याप्त नहीं है। उनको यह प्रयत्न करना चाहिए कि वे लेखक के अभिप्राय को समझें। टीका और भाष्य केवल मूल के आशय को स्पष्ट करने के लिये हैं। उनसे वहीं तक काम लेना चाहिए जहाँ तक उनका मूल से संबंध है। कितनी जगहों में टीकाकारों और भाष्यकारों ने मूल के आशयों को नहीं समझा है। उनको सर्वत्र निर्भ्रांत मानना ठीक नहीं है। कितने टीकाकारों और भाष्यकारों का यह स्वभाव है कि वे एक सिद्धांत निश्चय करके किसी ग्रंथ पर टीका और भाष्य करते हैं। ऐसे लोगों की टीकाएँ और भाष्य पढ़नेवाले ग्रंथ का आशय स्पष्ट करने के बदले धोखे में डालनेवाले हैं। ऐसी टीकाओं और भाष्यों से पाठकों को बहुत

सावधान रहना चाहिए। यदि तुम किसी ग्रंथकार के आशय को समझना चाहते हो, तो उस ग्रंथ को पढ़ने के पहले तुम्हें अपने अंतःकरण से संस्कारों को दूर कर देना चाहिए और ग्रंथकार के वाक्यों को उसके शब्दार्थ से समझना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि ग्रंथकार की सभी बातें तुमको ठीक जँचें और सब तुम्हारे अनुकूल ही हों। वे ग्रंथकार के आशय और विचार हैं, तुम्हारे नहीं। कितनी बातें जो ग्रंथकार के समय में संदिग्ध थीं, तुम्हारे समय में स्पष्ट हो चुकी हैं; और कितनी बात जो उसके समय में संदिग्ध थीं, अब तक संदिग्ध ही हैं। तुम्हारे और ग्रंथकार में देशकाल का व्यवधान है। संसार आगे बढ़ रहा है; तुम्हें भी उसके साथ आगे बढ़ना चाहिए। तुम्हारा पीछे की ओर जाने की चेष्टा करना उससे कम दुःसाध्य नहीं है जैसा कि किसी का अत्यंत तीव्र वेग से बहनेवाली नदी की धार में उलटे उद्गम की ओर तैर कर जाना।

पुस्तकें हमारे पूर्वजों और समकालीन विद्वानों के ज्ञान के भांडार हैं। उनमें मानव जाति का इतिहास और विज्ञान है। पुस्तकों के पढ़ने से जितना ज्ञान मनुष्य एक वर्ष में प्राप्त कर सकता है, उतना ज्ञान उसे बीस वर्ष तक लगातार अनुभव करने से भी प्राप्त नहीं हो सकता। अनुभव करने में और परीक्षा में लोगों को बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ और दुःख झेलने पड़ते हैं; तब उन्हें थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त होता है। पर पुस्तकों के देखने से मनुष्य थोड़े से काल और धन के व्यय

और श्रम से उतना ज्ञान प्राप्त कर सकता है, जितना अनेक मनुष्यों ने अनेक कठिनाइयाँ झेलकर सैकड़ों वर्ष में प्राप्त किया होगा।

संसार में कोई ऐसी रद्दी से रद्दी पुस्तक न होगी जिससे मनुष्य लाभ न उठा सके। उससे लाभ उठाने के लिये केवल थोड़े से ढंग की आवश्यकता है। पुस्तकों में भेद केवल इतना ही है कि कुछ पुस्तकों के पढ़ने में काल तो अधिक लगता है, पर उनसे इतना कम लाभ होता है जिसे हम नहीं के बराबर कह सकते हैं। दूसरी पुस्तकों में काल कम लगता है; पर उन से अमोघ ज्ञान की प्राप्ति होती है। लिखना और पढ़ना तो अनेकों को आता है; पर बहुत कम लोगों को अच्छा लिखना और अच्छा पढ़ना आता है। पढ़ने के पहले पुस्तकों को चुनना बड़ा आवश्यक है। सभी पुस्तकें लाभदायक नहीं होतीं। कितनी तो मन बहलाने के लिये होती हैं; कितनी ऐसी हैं जिन्हें पुस्तक कहना ही व्यर्थ है और उनका पढ़ना समय का अपव्यय करना है। कितनी पुस्तकें तो ऐसी हैं जिनको पढ़कर मनुष्यों के बिगड़ने का भय है। ऐसी पुस्तकों को भूलकर भी हाथ न लगाना चाहिए। कितनी पुस्तकें इतनी अच्छी हैं कि उनसे पढ़नेवाले को अवश्य लाभ पहुँचता है। सब से अच्छी पुस्तकें वे हैं जिनसे हमारे अन्तःकरण की शंका की निवृत्ति हो जाय हमारा ममत्व नष्ट हो जाय, हममें सर्वात्मीयता भर जाय और जो हमें स्वार्थ से मुक्त करके परमार्थ के उच्च शिखर पर पहुँचा दें,

जिससे हम अपने सारे दुःखों और चिन्ताओं को क्या, अपनी सत्ता तक को भूलकर आनंद के सागर में निमग्न हो जायँ।

अच्छी पुस्तकों का पढ़ना कभी निरर्थक नहीं जाता। कितने लोग, जिनको पाठशाला में उच्च शिक्षा नहीं मिली थी, अपने स्वाध्याय से संसार में बड़े बड़े विद्वान हो गए हैं। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र, राजा रामपालसिंह, मुंशी कालीप्रसाद, पंडित मथुराप्रसाद, सैयद्‌हसन बिलग्रामी आदि अपने स्वाध्याय ही से अच्छे विद्वान् हुए थे। इसकी चिंता कभी मत करो कि तुमको उच्च शिक्षा नहीं मिली है। यदि तुमको केवल लिखना पढ़ना आता है, तो भी यदि तुम पुस्तकों को अपने अवकाश के समय पढ़ा करो, तो थोड़े ही दिनों में तुम अच्छे विद्वान् हो जाओगे। इसमें केवल विद्यानुराग की आवश्यकता है।

विद्या का तीसरा और सब से प्रधान साधन विश्व है। यही समस्त विद्याओं का आकर और भांडार है। उसी के अंग और प्रत्यंग के मनन और निदिध्यासन से विद्वानों ने आज तक जितनी विद्या है, प्राप्त की है और उसी से आगे भी प्राप्त करेंगे। विश्व के एक एक अणु में अनेक अनेक विज्ञान भरे पड़े हैं। पर उसमें से विज्ञान प्राप्त करना सहज नहीं, बहुत ही कठिन काम है। बीसों वर्ष लगातार परिश्रम, अनुसंधान और परीक्षा करने पर भी किसी किसी भाग्यवान को उससे ज्ञान की राशि का एक कण प्राप्त होता है। यह विश्व समष्टि ही ब्रह्म है। वेदों में इसी को विराट कहा है। वेदांत में 'जन्माद्यस्मयतः'

सूत्र द्वारा इसी का निर्वाचन किया गया है। इसी से घोर और दुष्कर तप करके हमारे पूर्वज महर्षियों ने अनेकानेक ज्ञान प्राप्त किए हैं। मध्यवर्ती विद्वानों ने भी इसी से ज्ञान प्राप्त किया है। आज कल के विद्वान् भी इसी की सेवा से ज्ञान प्राप्त करते हैं और आगे के लोग भी प्राप्त करेंगे। यह ज्ञानमय आनंद का कोश सब का आश्रयभूत है।

अखिलात्मकोऽखिलगुणो भगवा-
नखिलाकृतिर्निखिलकामनिधिः।
सदसदात्मकः किल चिदम्बुनिधिः
सुखमप्रमेयमिह सर्वमये।
चिदात्मतत्वं विदितं न सर्वथा
जनस्य सर्वं विदितं न सर्वथा।
यथा यथास्यांशमुपैति मानव-
स्तथा तथा विज्ञतरत्वमृच्छति।

सातवाँ परिच्छेद

कर्म और परिश्रम

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

कर्म करना मनुष्य का मुख्य धर्म है। कर्म करने में प्रत्येक मनुष्य को दत्तचित्त होना चाहिए। उसे जाग्रत अवस्था में एक पल भी कर्महीन नहीं रहना चाहिए।

यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि कोई कर्म चाहे वह वह कितना ही छोटा क्यों न हो, भला हो या बुरा, अपना फल अवश्य देगा। कर्म में स्वयं फल देने की शक्ति है; उसका फल देना किसी दूसरे के अधीन नहीं है। ईश्वर भी कर्म के फल में एक अणु मात्र परिवर्तन नहीं कर सकता। इसी लिये मीमांसा शास्त्र के आचार्य कर्म ही को प्रधान मानते हैं; और सांख्य शास्त्र में मुक्त कंठ से 'नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणातत्सिद्धिः' कहा गया है। अर्थात् कर्म का फल ईश्वर के देने से नहीं मिलता; कर्म स्वयं अपना फल देता है।

कर्महीन पुरुष को सदा दुःख होता है। श्रम करना ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थहीन मनुष्य न अपना ही कल्याण कर सकता है और न दूसरे का। कर्म को प्रारंभ करते समय

मनुष्य को यह अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिए कि वह काम ऐसा हो जिससे उसको या दूसरे को लाभ पहुँचे । ऐसा कर्म कभी न करना चाहिए जिसका फल विपरीत हो ।

समय का खोना अच्छा नहीं है । हमारे जीवन के जो पल बीत जाते हैं, वे कभी लौटकर नहीं आते । हमको अपना काम ठीक समय पर करने का प्रयत्न करना चाहिए । अवसर चूकने से काम का उतना उत्तम होना असंभव है । अपना समय ऐसे मत गँवाओ कि तुम्हें पीछे यह कहकर पछताना पड़े कि हाय, हमने अपना काम देर से प्रारंभ किया । क्या ही अच्छा होता, यदि हम अमुक काम कर डालते । इतना समय हमारा व्यर्थ गया । समय पर किया हुआ काम जितना फलीभूत होता है, उतना असमय का काम नहीं हो सकता । समय पर काम करना हमें किसानों से सीखना चाहिए । वे कैसे समय पर अपना खेत जोतते, बीज बोते, सींचते और पानी देते हैं । यदि कोई मूर्ख असमय काम करे और धान बोने के समय गेहूँ, या गेहूँ बोने के समय धान बोए तो पहले तो उसका उपजना ही असंभव है । यदि दैवयोग से उपज भी आवे, तो उसमें बोनेवाले के अत्यन्त श्रम करने पर भी फल लगने की आशा नहीं है । इसी लिये समझदार मनुष्य को देश काल देखकर काम करना चाहिए जिसमें उसका कर्म निष्फल न जाय । भगवान् कृष्णचन्द्र ने गीता में कहा है—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

अर्थात् कर्म की गति बड़ी गहन और गूढ़ है। कितने तो कर्म ऐसे हैं जिनका फल मनुष्य को स्वयं मिलता है; कितने ऐसे हैं जिनके करने से न उसे कुछ फल होता है और न दूसरे को ही फल मिलता है: और कितने ऐसे कर्म हैं जिनका फल उसे तो नहीं मिलता, पर दूसरे उसके फल के भागी होते हैं।

हम लोग आयु की स्वल्पता और समय न मिलने या कम समय मिलने का रोना दिन रात रोया करते हैं। यदि विचार करके देखा जाय तो हम लोग अपना समय अधिकतर निठल्लू की तरह बैठकर कुछ न करने में बिताते हैं: अथवा करते भी हैं तो ऐसा काम करते हैं जिससे हमें कोई लाभ नहीं या ऐसा काम करते हैं जिसे हमें करना नहीं चाहिए। जिस जीवन का एक पल बीत जाने पर सारे ब्रह्मांड की संपत्ति व्यय करने से भी फिर नहीं आ सकता, उसे पानी की भाँति इस प्रकार बहाना और उलटे समय न मिलने का अथवा आयु की अल्पता की शिकायत करना हमारी कितनी बड़ी मूर्खता की बात है। पर हम लोग यह सब कुछ जानते हुए भी ऐसा समय नष्ट करते हैं और यह नहीं सोचते कि यह क्षण-भंगुर आयु फिर न मिलेगी। इसमें जो कुछ करना है, कर लें।

कहते हैं कि रावण बड़ा नीतिज्ञ था। जब वह लंका की समरभूमि में महाराज रामचंद्र के बाणों से घायल होकर गिरा

तो मर्य्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र जी ने लक्ष्मण जी को उसके पास नीति की शिक्षा के लिये भेजा। रावण मरणशय्या पर पड़ा था। लक्ष्मण जी उसके पास पहुँच कर बोले—राजन्, रामचंद्रजी ने मुझे आपके पास नीति की शिक्षा ग्रहण करने के लिये भेजा है। कृपाकर मुझे नीति का उपदेश दीजिए। लक्ष्मण जी की बात सुन रावण हँसा और बोला—वीरवर लक्ष्मण, तुम अवसर चूक गए और मेरे पास मरने के समय शिक्षा के लिये आए। अब मैं प्राण छोड़ रहा हूँ। तुम्हें क्या शिक्षा दे सकता हूँ। एक बात कहे देता हूँ; स्मरण रखो। यही सारी नीति की कुंजी है कि अवसर मत चूकना, और जो करना हो, जहाँ तक हो सके, शीघ्र कर डालना। जीवन क्षणभंगुर है। ऐसा न हो कि कल पर उठा रखो। मैंने सारे देवताओं को जीतकर अपने बंदीगृह में बंद किया था। मैं नित्य यही चाहता था कि काल को मार डालूँ, पर सदा अपने आलस्य से इसे कल पर टालता गया। परिणाम यह हुआ कि आज काल मेरे सिर पर आ पहुँचा और अब मैं उसका ग्रास हो गया। प्रिय लक्ष्मण, जाओ। आलस्य के वशीभूत मत होना; काम ठीक समय पर करना और अवसर मत चूकना। कबीर जी कहते हैं—

काल्ह करंते आज कर आज करंते अब।
पल में परलय होत है फेर करैगा कब॥

बड़े बड़े समझदार और बुद्धिमान् लोग, जो समय को संयमपूर्वक काम में लाते हैं और एक पल भी व्यर्थ नहीं जाने

देते, अपने सारे जीवन में कितने कामों को, जिन्हें वे करना चाहते हैं, नहीं कर पाते और कितने कामा को अधूरा छोड़ जाते हैं। कितनी पुस्तकों को जिनको वे पढ़ना चाहते हैं, नहीं पढ़ पाते: कितने स्थानों को जिन्हें वे देखने की इच्छा रखते हैं, नहीं देख पाते। सहस्रों अभिलाषाएँ अपने मन में लिये ही वे अपना जीवन समाप्त कर जाते हैं।

उद्यम और परिश्रम न केवल सफलता के प्राप्त करने ही के लिये आवश्यक है, वल्कि उसका प्रभाव मनुष्यों के स्वास्थ्य पर भी बहुत अच्छा पड़ता है। काम करनेवाले पुरुष की अवस्था सदा अच्छी रहती है। उसके हाथ पैर सदा नीरोग और पुष्ट रहते हैं। स्वस्थ पुरुष को अपने स्वास्थ्य को स्थिर रखने के लिये काम करने की और भी अधिक आवश्यकता है। जो मनुष्य स्वास्थ्य-सम्पन्न होने पर भी काम नहीं करते और उद्यम तथा परिश्रम से जी चुराते हैं, वे लोग विषय भोग के शिकार होते हैं। हमारे देश के राजा महाराज और श्रीमान् लोग, जिन्हें अपने हाथ से कुछ करना नहीं पड़ता, जिन्हें पानी तक नौकर हाथ में लेकर पिलाते हैं, जो दिन रात बिस्तर पर पड़े रहते हैं और भूलकर भी हाथ पैर नहीं हिलाते, काम न करने से विलास-प्रिय हो जाते हैं। ऐसे लोगों का न केवल शरीर ही बेडौल हो जाता है बल्कि उनका चरित्र भी कलुषित हो जाता है। वे यद्यपि दूसरों पर शासन करते हैं और दासी दास उनकी सेवा और आज्ञा मानने के लिये दिन रात उपस्थित रहते हैं,

पर वे अपनी इंद्रियों के दास होते हैं। उनकी इंद्रियाँ उन्हें कुत्ते के समान डोरियाए फिरती हैं और जिधर चाहती हैं, उन्हें दौड़ा देती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि न उनका अधिकार अपने शरीर ही पर रहता है और न मन ही उनके वशीभूत रहता है।

जब मनुष्य इंद्रियों से काम नहीं करता और अपना जीवन आलसी के समान पड़े पड़े बिताता है, तो यद्यपि वह बाह्य व्यापार नहीं करता, फिर भी वह अपने मन को नहीं रोक सकता। मन से वह विषयों का ध्यान करता और मानसिक व्यापार से कर्म करता रहता है। गीता में भगवान ने कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।

जो मनुष्य कर्म नहीं करता, वह मन से विषयों का ध्यान करता है। विषय के ध्यान से संग या राग उत्पन्न होता है। राग से मनुष्य इंद्रियों के विषय भोग में रत होता है। काम से मनुष्य को क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मनुष्य में मोह उत्पन्न होता है। मोह से उसकी स्मृति में भ्रम होता है; और स्मृति-विभ्रम से बुद्धि का नाश होता है, जिससे वह स्वयं नष्ट हो जाता है।

मन को वशीभूत रखना साधारण काम नहीं है। इसी के लिये हमारे पूर्वज घोर तप करते थे; पर फिर भी वे उसको वशीभूत करने में कृतकार्य्य होते थे या नहीं, इस विषय में सन्देह ही है। बहुत पूर्व काल में लोग अपने मन को वशीभूत करने के लिये अनेक कष्ट सहते थे; व्रत, उपवास आदि करके अपने शरीर को सुखाते थे; फिर भी समय पाकर उनका मन उनको विषय भोग के गड्ढे में गिरा देता था। मनुष्य यदि यह चाहे कि वह कर्म को छोड़कर अपने मन को वशीभूत कर ले, तो यह उसके लिये नितांत दुस्तर क्या असाध्य है। गीता में भगवान् अर्जुन से कहते हैं—

> असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहचलम्
> अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
> असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः
> वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

हे महाबाहु अर्जुन, मन अत्यंत चंचल है और उसका निग्रह करना बहुत कठिन है। फिर भी वह अभ्यास और वैराग्य से वशीभूत होता है। जो पुरुष असंयतात्मा है अर्थात् जो संयम से अपनी इंद्रियों पर अधिकार नहीं रखता, उसके लिये मन को वशीभूत करना अशक्य है। पर जो मनुष्य अपने शरीर पर अधिकार रखता है, जिसकी इंद्रियाँ उसके वशीभूत हैं, वह यदि प्रयत्न करे तो उपाय से अपने मन को वशीभूत कर सकता है।

कर्म करने का अभ्यास और मन को विषयों से पृथक् रखना ही एक ऐसा साधन है जिससे मनुष्य अपनी इंद्रियों पर अधिकार प्राप्त कर सकता है। इसी का नाम योग है। योग शब्द युज समाधौ धातु से निकलता है। इसका अर्थ है मन का चंचलता-रहित होकर स्थिर होना। भगवान् पतंजलि ने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' प्रमथ सूत्र में योग का लक्षण चित्त की वृत्ति का निरोध बतलाया है। चित्त या मन के फैलने को रोकने का ही नाम योग है। भगवान् कृष्णचंद्र ने गीता में अर्जुन से कहा है—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगंत्यक्त्वा धनंजय।
लाभालाभे समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

हे अर्जुन, योगस्थ होकर संग या राग को छोड़कर कर्म करो। लाभ अलाभ, सिद्धि असिद्धि में समान भाव रखने का नाम ही योग है।

मनुष्य को कर्म करना अपना धर्म समझना चाहिए। उसे उचित है कि जिस काम को करे, मन लगा कर करे। पढ़े तो मन लगा कर पढ़े; खेले तो मन लगा कर खेले; हल जोते तो मन लगा कर और मजूरी करे तो मन लगा कर। यदि वह विचारपति है तो मन लगा कर न्याय करे। यदि वह वाणिज्य करता है तो मन लगा कर वाणिज्य व्यापार करे। शिकार खेले या युद्ध में लड़े; जो कुछ करे, मन लगा कर करे। ऐसा न हो कि शरीर तो खेत में हल जोतता हो और मन बाजार

में सौदा खरीदता अथवा उसी खेत में फसल काटता हो। मन लगा कर काम करने से न केवल सफलता ही होती है किंतु इससे मनुष्य के मन को सच्ची शांति और सच्चा आनंद प्राप्त होता है। निरंतर काम करने से मनुष्य को जितना लाभ होता है, उतना लाभ वर्षों एकांत में बैठकर योगाभ्यास साधन से नहीं होता। जो लाभ मनुष्य को महीनों काम करने से होता है, वह एक दिन बेकाम या निठल्ले बैठने से नष्ट हो जाता है; क्योंकि बेकार रहने पर मनुष्य का मन बहुत इधर उधर दौड़ता है, जिससे चित्त की शक्ति का जितना निरोध वह महीने भर काम करके करता है, एक दिन में नष्ट हो जाता है और मन की वृत्ति फिर ज्यों की त्यों विस्तृत हो जाती है। महर्षि गोतम ने न्यायशास्त्र में 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिरिति मनसोलिंगम्' सूत्र में कहा है कि मन में एक समय में दो ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब मनुष्य मन लगाकर काम करता है, तब उसका मन उस काम की ओर लगा रहता है और उसमें दूसरे विचार नहीं आ सकते। पर बेकाम बैठने में वह इधर उधर दौड़ा करता है। मन लगा कर काम करने से मनुष्य को दोहरा लाभ पहुँचता है। एक तो उसे उस काम में सफलता होती है; दूसरे उसका मन एकाग्र रहता है जिससे उसे मानसिक शांति और आनंद, जो योगाभ्यास का मुख्य फल है, प्राप्त होता है।

मनकी गति दो प्रकार की है—एक तत्वज्ञान की और दूसरी

विषय की ओर। इन्हीं दोनों प्रकार की गतियों का नाम शास्त्रों में मानसिक पुण्य या पाप है। मनुष्य के लिये तत्वज्ञान की ओर गति जितनी ही लाभदायक है, उतनी विषय की ओर मन का जाना मनुष्य को हानि पहुँचानेवाला है। मनुष्य को उचित है कि ऐसी अवस्था में जब उसका मन शारीरिक श्रम से घबरा जाय, अपना मन पुस्तकों के पढ़ने अथवा किसी दार्शनिक वा वैज्ञानिक विषयों पर विचार करने में लगावे। जिस प्रकार शारीरिक श्रम करने से मनुष्य के शरीर के अवयव पुष्ट और नीरोग रहते हैं, उसी प्रकार मानसिक व्यापार से मनुष्य का अन्तःकरण बलिष्ठ होता और उसमें आध्यात्मिक शक्ति आती है। मनुष्य को भूल कर भी अपने मन को विषय और मिथ्या व्यापार की ओर नहीं जाने देना चाहिए। मानसिक संकल्पों को व्यर्थ करने में जितनी मनुष्य में दुर्बलता आती है, उतनी किसी और व्यापार से नहीं आती। इस बात का ध्यान रखो कि जो संकल्प करो, उसे अवश्य पूरा करो। मन में ऐसा संकल्प कभी न उठने दो जिसे तुम न कर सको अथवा जिसमें तुम्हारी या दूसरे की हानि हो। जिस प्रकार मनुष्य अनेक व्यापार आरंभ करके यदि वह उन्हें छोड़ता जाय तो उसमें अकर्मण्यता और उदासीनता आ जाती है और वह किसी काम को नहीं कर सकता, ठीक इसी प्रकार प्रतिक्षण संकल्प कर उन्हें छोड़ने से मनुष्य अकर्मण्य और आलसी हो जाता है। संसार में दृढ़-प्रतिज्ञ पुरुष ही सब कुछ कर सकते हैं। दृढ़ प्रतिज्ञता ही सफल-

ता का मूल हेतु है। तुम्हें उचित है कि जो संकल्प करो उसे जिस प्रकार हो सके पूरा करो। अपने संकल्पों को पूरा करना ही अपना कर्तव्य समझो। देव और असुर दोनों दृढ संकल्प ही थे। भेद केवल इतना ही था कि देवताओं के शुभ संकल्प होते थे और असुरों के अशुभ। अशुभ संकल्प से सदा बचो। यह बड़ा भयानक होता है। यद्यपि इसमें मनुष्य का स्वार्थ है, पर वह दूसरे को हानि पहुँचानेवाला होता है।

जो संकल्प तुम्हारे मन में उठे उसे करो। कुछ करते रहो, एक क्षण भी वेकार मत रहो। कितने लोगों को पारस पत्थर ढूँढते ढूँढते रत्नों की खान मिल गई है। कोलम्बस पश्चिम ओर हिंदुस्थान ढूँढने गया था और उसने अमेरिका द्वीप का पता लगाया। कितने राजपुत्र घर से रूठ कर निकले हैं वे बड़े बड़े राज्यों के संस्थापक हुए हैं। जिस काम में हाथ लगाओ, उसे निःस्वार्थ होकर मन लगा कर करो। अपनी मानसिक शक्तियों को काम में लाओ। दृढ़प्रतिज्ञ हो। सुख दुःख की परवाह मत करो। ऊबो मत, थोड़ा थोड़ा करो, पर करो सही, घबरा कर छोड़ मत दो। थोड़ा थोड़ा करके करने से बड़े से बड़ा काम थोड़े दिनों में पूरा हो सकता है। एक काम प्रारंभ करके उसे छोड़ दूसरे में हाथ लगाने से, फिर उसे भी छोड़ तीसरे को करने से एक भी काम पूरा नहीं होता। यह मत समझो कि एक काम छोड़ कर दूसरा काम करने से केवल वही काम बिगड़ता है। इससे मनुष्य में एक ऐसे अवगुण का संचार होता है जिसे

अदृढ़ता कहते हैं। यह एक ऐसा रोग है जो अकर्मण्यता से बढ़ कर हानिकारक है। इससे मनुष्य के साहस और ओज दोनों का नाश हो जाता है। जो तुम्हें करना हो करो, जिस काम को करो उसे पूरा करो। बिना काम पूरा किए छोड़ो मत।

मनुष्य में प्रकृति ने अनेक शक्तियाँ दी हैं। उन शक्तियों का चाहे वे शारीरिक हों वा आध्यात्मिक, उपयोग करना हमारा काम है। हमें उचित है कि उनसे हम यथास्थान काम लें। काम में न लाने से वे शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं।

कितने लोगों को, जो काम करने से जी चुराते और जाँगर-चोर होते हैं, भीख माँगना अच्छा लगता है। ऐसे लोग हमारे देश में अधिक हैं। ये लोग घर से भाग कर प्रायः साधु हो जाते हैं और छापा तिलक लगाए इधर उधर फिरा करते हैं। ये लोग यह नहीं सोचते कि भीख माँगना सहज काम नहीं है; यह काम करने से भी कठिन है। काम करने से तो मन में यह संतोष और विश्वास रहता है कि कर्म का फल अवश्य मिलेगा; पर भीख माँगने में यह निश्चय नहीं है कि हमारे माँगने से दाता अवश्य देगा। दाता की मौज पर है कि वह दे या न दे। हमने कितने भिखमंगों को निराश हो दर दर मारे मारे फिरते देखा है। हाथ पैर रखनेवाले के लिये यह खेद और लज्जा की बात है कि वह काम करना जिसका फल उसके हाथ में है, छोड़ कर भीख माँगना, जिसका फल उसके हाथ में नहीं है, स्वीकार करे।

हमारे शास्त्रों में भीख माँगना निंद्य कर्म बताया गया है। इसके अतिरिक्त भीख माँगने में उतना लाभ भी नहीं है। सबेरे से साँझ तक कहीं घर घर भीख माँगने से मनुष्य अपने खाने भर को पा सकता है। अपने पेट के लिये उसे ऊँच नीच सब के सामने दीन बन कर हाथ फैलाना और दाँत निकालना पड़ता है।

तुलसी कर पर कर करो कर तल कर न करो।
जा दिन करतल कर करो वा दिन मरण करो॥

स्वावलंबन सीखो; अपने ऊपर भरोसा करो। अपनी कमाई से रोटी खाओ। आलसी बन कर दूसरे के सामने हाथ पसारना अपनी आत्मा का नाश करना है। अपने श्रम से दिन भर खेत में काम करके रात को जौ की रोटी खा कर टाट पर पड़ रहनेवाला किसान आलसी श्रीमानों से कहीं अच्छा है।

यदि तुम निर्धन हो तो सोच मत करो, साहस करो। आलसी न होकर काम करने में मन लगाओ। संसार में कोई धन लेकर नहीं उत्पन्न हुआ है। निर्धन पुरुष कर्म करने से अपना जीवन सुखपूर्वक बिता सकता है और अपने श्रम से धन उपार्जन कर सकता है; और सम्पन्न पुरुष आलसी बन कर और अकर्मण्य रह कर अपव्यय और इंद्रियसुख में पड़ कर दरिद्र हो सकता है। संसार में कितने छोटे आदमी अपने श्रम से बड़े आदमी बन गए हैं और कितने धनी और संपन्न लोग अकर्मण्यता से दीन दरिद्र हो गए हैं। स्वर्गीय मुंशी

नवलकिशोर, बा० लंगटसिंह, बाबू गंगाप्रसाद वर्म्मा प्रभृति साधारण पुरुष थे; पर अपने श्रम और व्यवसाय से बड़े आदमी हो गए और राजा और प्रजा दोनों के सम्मानभाजन हुए। बिगड़नेवालों का उदाहरण देने की हमें आवश्यकता नहीं है। कोई गाँव, कोई नगर ऐसा नहीं है जहाँ प्रति वर्ष दो एक मनुष्य अपनी अकर्मण्यता और आलस्य से न बिगड़ते हों। अकर्मण्यता और आलस्य सुख नहीं हैं, ये दुःख के साधन हैं। कर्म या निष्कर्म स्वयं सुख दुःख नहीं होते, वे साधन मात्र हैं। सुख और दुःख उनके परिणाम हैं। निकम्मा पड़े रहने से वा आलस्य से जितनी थकावट और ग्लानि उत्पन्न होती है, उतनी दिन रात परिश्रम करने से भी नहीं होती। इसके अतिरिक्त परिश्रम की थकावट विश्राम और खेल कूद से भी निवृत्त हो जाती है, पर अकर्मण्यता और आलस्य की थकावट उससे भी निवृत्त नहीं होती।

आत्मगौरव और आत्मोत्सर्ग दोनों यद्यपि परस्परविरुद्ध भाव हैं, पर परिणाम दोनों का समान है। एक में अहंभाव की मात्रा इतनी बढ़ा दी जाती है कि संसार का एक अणु भी नहीं रह जाता जिसे वह अपने से बाहर देखता हो। बेगाना-पन बिल्कुल नष्ट हो जाता और उसे सब कुछ अपना ही जान पड़ता है। नीति में कहा है—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।

ऐसे उदारचरित पुरुष को सारा संसार अपना घर और मनुष्यमात्रअपने भाई और आत्मा हैं। वह अपने समस्त कर्मों को, चाहे उनसे उसे लाभ पहुँचे अथवा उनसे पराया कल्याण हो, बड़े श्रम से अपना मन लगा कर करता है और उसे दूसरे के सुख में सुख और दूसरे के दुःख में दुःख होता है। आत्मोत्सर्ग करनेवाले पुरुष का अहंभाव नष्ट हो जाता है। वह किसी वस्तु को अपना नहीं देखता। यहाँ तक कि उसे अपना शरीर भी अपना नहीं दिखाई पड़ता। उसमें अहंकार की मात्रा बिल्कुल रह ही नहीं जाती। सारा संसार उसे ब्रह्ममय दिखाई देता है। वह अपने को ब्रह्म का एक अंश मानता हुआ संसार के कल्याण के लिये दिन रात श्रम करता है। उसे अपने लिये कुछ करना नहीं रहता। वह सब संसार के हित के लिये सब कुछ करता है। गीता में कहा है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतं।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

दोनों आत्मगौरवान्वित और आत्मोत्सर्गी पुरुष अपना जीवन श्रम से व्यतीत करते हैं, श्रम से धनोपार्जन करते हैं, अपने कर्तव्य की थाती की रक्षा करते हैं। गीता में कहा है—

यत्सांख्यै गम्यते स्थानं तद्योगैरभिगम्यते
एकंसांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यते।

आत्मगौरव से हो वा आत्मोत्सर्ग से, लज्जा से हो वा भय से पर कुछ करो अवश्य और सच्चा काम करो, दृढ़ता से

करो, साहस रखो, उतावली मत करो। कहा करते हैं, उतावला सो बावला। कितने लोग काम करने में बड़ी हड़बड़ी मचाते हैं और चाहते हैं कि जल्दी काम को समेट लें। कहने को तो ऐसे लोग समय की बचत करते हैं और उनका उद्देश्य यह जान पड़ता है कि जितने काल में लोग एक काम करें, उतने में ये दो करना चाहते हैं; पर यह उनकी भूल है। जो काम जितनी ही देर में किया जाता है वह उतना ही दृढ़ और उत्तम होता है। इसके अतिरिक्त शीघ्रता करने से काम के बिगड़ जाने की प्रायः आशंका रहती है। जब काम बिगड़ जाता है तब उसके सुधारने में उसका दूना काल लगता है जितना उसके बिगाड़ने में लगा है। फिर भी यह संशय रहता है कि बने या न बने। जो काम जितना ही अल्प काल में किया जाता है वह उतना शीघ्र नष्ट होता है। समय के मितव्यय से यह तात्पर्य्य कदापि नहीं है कि तुम काम करने में शीघ्रता करो। इसका अभिप्राय यह है कि समय को नष्ट मत करो। जो समय बीतें, कुछ न कुछ करने ही में बीते।

कर्म चाहे उत्तम हो वा निकृष्ट, बड़ा हो वा छोटा, घास खोदना हो वा पुस्तक रचना, खेत जोतना हो वा चित्रकारी, मजदूरी हो वा शासन करना, बोझ उठाना हो वा न्याय करना, जो करो उसे अच्छी तरह करो, जी लगा कर करो। थोड़ा थोड़ा कर के धीरे धीरे करो। धीरे धीरे दम लेकर काम करने से कठिन से कठिन काम भी सुगमता से हो जाता

है। इसकी कुछ चिंता मत करो कि अधिक काल लगेगा। संसार में जितने बड़े बड़े काम हुए हैं, वे स्वल्प काल में नहीं हुए हैं। थोड़ा थोड़ा कर के यूरोपवालों ने स्वेज के डमरू को काट कर रक्त सागर को रूम के सागर से मिला दिया और अमेरिकावालों ने पनामा के डमरू को काट कर उत्तरीय अमरिका को दक्षिणीय अमरिका से पृथक् कर दिया। इसकी कुछ चिंता मत करो कि तुम सुस्त काम करते हो। तुम्हारी गति चाहे जितनी धीमी हो, पर यदि तुम धैर्य्य धर कर साहस बाँधे काम करते जाओगे तो कभी न कभी वह अवश्य पूरा होगा। चींटियों की ओर देखो; वे कण कण मिट्टी निकाल निकाल कर बाहर डालती हैं और थोड़े दिनों में बहुत बड़ी बाँबी बना लेती हैं। खोदने से कितने बड़े बड़े पर्वत भी नष्ट हो गए हैं। थोड़ा थोड़ा चल कर मनुष्य सहस्रों कोस की राह को वर्ष छः महीने काट कर अपने उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचता है। कर्म करते जाओ, फल की चिंता मत करो। कर्म तुम्हें स्वयं फल देगा। कर्म का नाश नहीं है। भगवान् गीता में अर्जुन को विश्वास दिलाते हैं—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥

संशय त्यागो, अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करो। प्रातःकाल सूर्य्योदय से पहले उठो, हाथ मुँह धोओ। आवश्यक कामों से निवृत्त हो कर सूर्य्योदय के साथ ही काम करने में लगो सूर्य्य

भगवान् मनुष्य को कर्म करने की प्रेरणा करते हैं। प्रकृति की प्रेरणा से, प्रेरित होकर उसकी आज्ञा सुनो। पौ फटते ही प्रकृति मनुष्य को जगाती है। चिड़ियाँ चिल्ला चिल्ला कर घोषणा करती हैं कि उठो और अपने काम में लगा। पशु पक्षी सब इस समय अपना आराम छोड़ते और व्यापार में प्रवृत्त होते हैं। काम करने में सुख समझो। कर्म कभी दुःख-दायी नहीं है। जो पुरुष कर्म करने में सुख नहीं मानता, संसार उसे दुःख का सागर दिखाई पड़ता है। यदि तुम अपना काम करोगे और अपना कर्त्तव्य पालन करोगे तो तुम्हें कभी दुःख नहीं होगा। अपना धर्म पालन करो। यही आनंद है, यही तुम्हारा जीवन है। इसी में तुम्हारा और संसार का कल्याण है। धर्म ही मनुष्य का उपास्य है। इसी की उपासना करना मनुष्य जन्म का उद्देश्य है। मनुजी कहते हैं—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

अपना धर्म करो। यदि तुम चमार हो तो अपना धर्म पालन करो। राजा हो तो अपना धर्म पालन करो। वैश्य हो तो अपना धर्म पालन करो। यदि तुम किसी व्यवसाय के करनेवाले हो तो अपना धर्म पालन करो। अपना धर्म पालन करनेवाला बधिक अपना धर्म त्यागनेवाले ब्राह्मण से कहीं श्रेष्ठ है। भगवान् गीता में कहते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

आलस्य त्यागो। युक्ताहार विहार हो अपने धर्म की रक्षा करो, नहीं तो तुम्हारा धर्म तुम्हारा नाश कर देगा। यह मत समझो कि यदि तुम अपना कर्तव्य धर्म छोड़ते हो तो तुम सुख से रहोगे वा तुम्हें आनन्द मिलेगा। संन्यास कर्मत्याग नहीं है। संन्यास फलत्याग का नाम है। गीता में कहा है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी स योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

कर्म के फल की इच्छा को त्यागकर जो अपने कर्तव्य कर्म को करता है वही सन्यासी और वही योगी है। निरग्नि और कर्म त्यागनेवाला सन्यासी नहीं है। कर्म को मत त्यागो, आलस्य छोड़कर अपना कर्तव्य पालन करो। आवेश और दीर्घ-सूत्रता को त्यागो। कर्म त्यागना कल्याणकर नहीं है—

षड् दोषा पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं शोक आलस्यं दीर्घसूत्रता॥

मनुष्य को इन छः दोषा को यदि वह अपना कल्याण चाहे तो छोड़ देना चाहिए। वे ये हैं—निद्रा, तंद्रा, भय, शोक, आलस्य और दीर्घसूत्रता।

इनके वश में मत रहो; ये अन्यथा तुम्हें सफलता न होने देंगे। ये तुम्हारा नाश करनेवाले हैं। इनसे सजग रहो। ये बड़े हानिकारक हैं। इनसे तुम रोगी हो जाओगे, तुम्हारी आयु कम हो जायगी। अपना कर्तव्य पालन करो; इसी में

तुम्हारा कल्याण है, इसी से तुम्हें आत्मिक शांति मिलेगी, तुम्हारी आयु बढ़ेगी।

कर्म दो प्रकार के हैं एक पैतृक, दूसरे सहज। इन्हीं दोनों का नाम देवयान और पितृयान है। जिस काम को पिता, पितामहादि करते आए हैं, उसे पैतृक वा पितृयान कहते हैं। अपनी योग्यता और विचार के अनुसार उसमें हेरफेर करके अथवा किसी दूसरे अधिक लाभदायक व्यवसायक के अवलंबन करने का नाम सहज वा देवयान है। साधारण विद्या और बुद्धिवाले के लिये पितृयान मार्ग से बढ़कर श्रेयस्कर दूसरा मार्ग नहीं है। बड़े अनुभवी और विद्वान के लिये देवयान है। हर एक पुरुष में यह योग्यता नहीं होती कि वह प्रचीन प्रथा में कुछ संशोधन कर सकें। पैतृक व्यवसाय का परित्याग करने से भारतवर्ष की बड़ी हानि हो रही है। उद्योग धंधा इस देश से उठता जा रहा है। कृषि और नौकरी के अतिरिक्त इस देश में पैतृक व्यवसाय त्यागने से दूसरा काम रह ही नही गया है। लोहार हो वा वढ़ई, थवई हो या कुम्हार, दर्जी हो या जुलाहा, धोबी हो या रँगरेज, लोनिया हो या कलवार, वैद्य हो वा हलवाई कोई ऐसा नहीं है जो अपने पैतृक व्यवसाय में निपुण और दक्ष हो। सूई से लेकर सूत तक के लिये हमारे देशवालों को विदेश का मुँह ताकना पड़ता है। जो देश किसी समय दूसरे देशों को उत्तम उत्तम वस्त्र भेजकर वहाँ के लोगों के शरीर ढकता था, आज उसी देश को विदेश का मुँह

देखना पड़ता है। जहाँ के मलमल और तनजेब की प्रशंसा देश देशांतरों में फैली थी, आज वहीं के लोग गजी गाढ़ा भी नहीं बुन सकते। यह कर्मत्याग और आलस्य का परिणाम है।

कारीगरी ही देश की संपत्ति है। यूरोप के जर्मनी, इंग्लैंड आदि देशों ने इसी कारीगरी के कारण अपने को आज ऐश्वर्य्यसंपन्न कर लिया है। जापान कारीगरी ही से एशिया में एक बलशाली और संपन्न राज्य माना जाता है। इसके बिना हमारा देश जो अन्य सब विधि से उपजाऊ और सपन्न है, दीन, निर्धन और सत्वहीन हो गया है। इसका कारण इस देशवालों का पैतृक व्यवसाय के त्याग के सिवा दूसरा नहीं हो सकता।

कर्म में उदासीन मत हो। धृति का अवलंबन करो। कोई काम सूखा रूखा नहीं है। यह तुम्हारे ऊपर निर्भर है कि चाहे तुम उसे रूखा बनाओ या आनंद-दायक। उसमें मन लगा डूबकर अच्छी तरह देखो सोचो विचारो। विरोधी कारणों को धीरता से हटाओ और अनुकूल का अवलंबन करो। उसको करना अपना कर्तव्य समझो। यदि तुम अपने कर्तव्य का हर्ष से पालन करोगे तो तुम कभी किसी काम को दुष्कर न पाओगे। जिस काम को करो हर्षपूर्वक करो, परिश्रम से करो। तुम अवश्य उस काम को सफलतापूर्वक कर सकोगे। यद्यपि काम करने के लिये तदनुकूल प्रकृति का होना परमावश्यक है, पर बिना परिश्रम के कुछ होता नहीं।

सदा काम प्रारंभ करते समय यह देख लो कि वह काम जिसे तुम करना चाहते हो, ऐसा तो नहीं जो देश, काल और प्रकृति के प्रतिकूल न हो। प्रकृति के प्रतिकूल काम करने से मनुष्य को अनेक हानियाँ होती हैं। प्रकृति देवतामय है। उसके कुपित होने पर कोई रक्षा नहीं कर सकता। पर यह सब संकल्प करने के पहले ही विचारना चाहिए। पर जब संकल्प हो गया और काम को प्रारंभ कर दिया तब फिर कर्ता को अपने काम की चिंता करनी चाहिए और दृढ़तापूर्वक चाहे जो हो अपना काम सिद्ध करना चाहिए। सफलता का मूल मंत्र कर्म के फल का त्याग है। जो करो अपना कर्तव्य समझ कर करो। निराश मत हो। भगवान् ने गीता में कहा है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

आठवाँ परिच्छेद

गृहस्थाश्रम

सानंदं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी,
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे
साधोः संगमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ॥१॥

हिन्दुओं के शास्त्रों में गृहस्थाश्रम की बड़ी प्रशंसा की गई है। मनु भगवान् ने इस द्वितीयाश्रम को ज्येष्ठाश्रम कहा है। वास्तव में गृहस्थ यदि विचारपूर्वक देखे तो उसका घर संसार का एक छोटा रूप है जहाँ आबालवृद्ध अपने कर्त्तव्य द्वारा परस्पर एक दूसरे से संबद्ध हैं। हम लोग संसार में रहते हैं, हमारा संसार के प्रति कुछ कर्तव्य है। कहने को तो हम अपने को संसार से अलग कहते हैं, और बोलचाल में हम "यह हमारा यह तुम्हारा यह दूसरे का" व्यवहार करते हैं, पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो हमारे और आपके अतिरिक्त संसार है ही क्या। हमीं ऐसे व्यक्तियों से तो संसार बना है। जैसे अवयवों से पृथक् अवयवी नहीं, उसी प्रकार हम और आपसे पृथक् संसार नहीं। इसी संसार का दूसरा छोटा रूप राष्ट्र है। उससे छोटा समाज और सब से छोटा हमारा घर। इन सब में अंशांशी का संबंध है। जिस प्रकार वृक्ष से पृथक्

होकर एक पत्ता अपनी सत्ता स्थिर नहीं रख सकता, उसी प्रकार घर, समाज, राष्ट्र और संसार से पृथक् होकर हम अपनी सत्ता स्थिर नहीं रख सकते। साधु-सन्यासी कहने को तो संसार को छोड़ते हैं और विरक्त कहलाते हैं, पर उन्हें भी एक समाज बनाना पड़ता है, मठ बाँधना पड़ता है। जो यह सब नहीं करते, उन्हें कभी कभी अपने भरणपोषण के लिये संसार की शरण लेनी पड़ती है। वे लोग भले ही संसार को छोड़ें, पर संसार को छोड़ कर जायँगे कहाँ। संसार तो तभी छूटेगा जब वह संसार में न रहेंगे। फिर भी उनकी सत्ता से दूसरी सत्ता उठ खड़ी होगी और वह संसार में रहेगी।

मनुष्य तो संसार में एक बुद्धिमान् प्राणी है। उसके प्रबंध अधिक परिमार्जित और परिवर्धित हैं। पशुपक्षी भी संसार में समाज बना कर रहते हैं। प्रेम, परस्पर सहानुभूति और विश्वास ही समाज के बंधन के मुख्य हेतु हैं। जंगल के पशुओं को देखो। वे अपने झुंडवाले के साथ कितना प्रेम रखते, उन पर उनका कितना विश्वास होता है और वे परस्पर कैसी सहानुभूति रखते हैं। वे समझते हैं कि वे अपने झुंड के एक अंग हैं, उसके प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा करना उनका कर्तव्य है। यद्यपि प्रत्येक अलग खाते पीते हैं, पर फिर भी एक दूसरे से सहानुभूति रखते हैं, उनके सुख में अपना सुख और उनके दुःख में अपना दुःख मानते हैं।

हिंदुओं का गृहप्रबंध अन्य जातियों के गृहप्रबंध से कहीं

परिमार्जित और परिवर्धित है। यहाँ घर में केवल पिता और पुत्र ही नहीं एकत्र रहते, किंतु पितामह, प्रपितामह, भाई, चाचा और उनके पुत्रादि सब एकत्र मिलकर रहते हैं। घर की संपत्ति सब की सम्मिलित संपत्ति मानी जाती है। यहाँ अन्य जातियों के समान पुत्र तभी तक पिता के वशवर्ती नहीं रहते हैं जब तक कि वे कमाने योग्य नहीं होते। यहाँ संपत्तिहीन वूढे पिता को अनाथालय का मुँह देखना नहीं पड़ता, आजीवन उसकी उसके पुत्रपौत्र देववत् पूजा करते है। इतना ही नहीं, उसके मरने पर भी उसके उद्देश्य से लोग पिंडदान और तर्पण करते हैं। हिंदू लोग यदि चाहें तो अपने घर को सच्चा स्वर्ग बना सकते हैं। संस्कृत भाषा में घर को पिंड कहते हैं। जिस प्रकार हमारा शरीर है, उसी प्रकार घर का भी शरीर है। यद्यपि पिंड शब्द का व्यवहार केवल घर के पिंजड़े के लिये होता है, पर यदि विचार से देखा जाय तो हिंदुओं का घर भी एक शरीर है। उसका प्रत्येक व्यक्ति उस घर रूपी शरीर का अंग प्रत्यंग है। घर क्या है, घरवाले प्रत्येक व्यक्ति की एक समष्टि हैं। जिस प्रकार हमारा शरीर हमारे अवयवों की समष्टि है और हमारे अंग प्रत्यंग परस्पर सहानुभूति रखते हुए प्रेमपूर्वक शरीरयात्रा के धंधे और अपनी रक्षा में लगे रहते हैं, उसी प्रकार घर के प्रत्येक व्यक्ति को परस्पर प्रेमपूर्वक सहानुभूति रखते हुए परस्पर रक्षा का प्रवंध रखना चाहिए। हिंदू शास्त्रों के देखने से यह पता चलता है कि कोई संपत्ति जब

तक वे लोग सम्मिलित हैं, किसी व्यक्ति विशेष की नहीं मानी जाती; किंतु संपूर्ण कुटुंब का संपत्ति मानी जाती है और किसी एक व्यक्ति को बिना सब लोगों की सम्मति लिए उसके विषय में कोई हानिकारक कृत्य करने का अधिकार नहीं होता। इस पर ध्यान देने से यह अनुमान होता है कि हमारे शास्त्रकारों ने यह नियम समाज के संघटन पर अच्छी तरह विचार करके स्थापित किया था। कुटुंब के प्रत्येक व्यक्ति को स्वार्थ-त्याग करने की अत्यंत आवश्यकता है। उनका मुख्य लक्ष्य परार्थ होना चाहिए। स्वार्थ-त्याग ही से मनुष्य अपना और अन्य का कल्याण कर सकता है।

घर के लिये यह आवश्यक है कि उसमें प्रेम हो। जिस घर में प्रेम नहीं है, वह घर चाहे कोट हो, पर घर नहीं कहा जा सकता। घर शब्द सस्कृत भाषा के 'गृह' शब्द का अपभ्रंश है। गृह शब्द 'गृह्' धातु से निकलता है जिसका अर्थ पकड़ना है। प्रेम ही है जो घर के प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार पकड़ कर बाँधे हुआ है कि वे लोग पृथक् पृथक् होते हुए ऐसे संश्लिष्ट हैं कि उनको पृथक् कह ही नहीं सकते। प्रेम ही घर की आत्मा है। प्रेमरहित घर घर कहे जाने योग्य नहीं है। ऐसे घर को घर कहना वैसा ही है जैसे एक मृत पुरुष को पुरुष कहना। प्रेम ही है जो हमारे मन को, हम चाहे जहाँ रहें चाहे जो करें, घर में लगाए रहता है। जिस जाति का गृह-प्रबंध जितना ही अधिक संस्कृत है, वह उतनी ही अधिक सभ्य

मानी जाती है। हिंदू जाति से बढ़ कर किसी जाति का गृहप्रबंध इतना संस्कृत और परिमार्जित नहीं है। यही इनकी प्राचीन सभ्यता का प्रमाण और चिह्न है। हिंदुओं का सब कुछ गया, उनकी स्वतंत्रता गई, उनका साम्राज्य गया, अधिकार गया, पर उनका केवल यह चिह्न रह गया है जो आज तक उनका सिर अन्य जातियों से ऊँचा किए हुए है: और जब तक वह उसे बनाए रखेंगे उनका सिर ऊँचा रहेगा।

हमारा घर हमारी प्राचीन सभ्यता का चिह्न है। यही एक ऐसा स्थान है जहाँ से सभ्यता का स्रोत बहता है। यही एक भूमि है जहाँ सभ्यता उत्पन्न होती है। सभ्यता के प्रासाद की नीव घर की दृढ़ भूमि पर है। इसी में रह कर हम संसार की उत्तम से उत्तम बातों को सीख सकते हैं। यहीं हम प्रेम, सहानुभूति, प्रतिष्ठा, परोपकार, स्वार्थत्याग आदि की उत्तम शिक्षा पा सकते हैं। इसी आश्रम में हम स्वयं अपना और दूसरे का उपकार कर सकते हैं, स्वयं सुखी रह कर दूसरे को सुख पहुँचा सकते हैं।

हमारा घर झोपड़ा हो, हमारे छप्पर में सहस्रों छेद हों, वह कितना ही बुरा क्यों न हो पर वह हमारा घर है, उस पर हमारा ममत्व है। हमारा उसके प्रति कर्त्तव्य है। हम उसके लिये अपना सब सुख छोड़ने के लिये तय्यार हैं। दुःख उठावेंगे, कष्ट सहेंगे पर उसमें हमारा अनुराग है, हम नहीं छोड़ेंगे।

कुटुंब में रहना एक तप है। यहाँ मनुष्य को अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं, अनेक झँकोरे सहने पड़ते हैं। इसमें मनुष्य को न केवल अपने धन, समय और श्रम को लगाना पड़ता है किंतु अपने स्वार्थ की पूर्णाहुति करनी पड़ती है। हम गृहस्थ को, एक सच्चे स्वार्थत्यागी गृहस्थ को बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। हमारी दृष्टि में वह एक सच्चा योगी, सच्चा त्यागी और सच्चा सन्यासी है। जिसने गृहस्थाश्रम के झँकोरे को सह लिया वह सब कुछ कर चुका। वह स्वार्थी है जो गृहस्थाश्रम को छोड़ आप सन्यास ग्रहण करता है।

संसार में बहुत कम मनुष्य ऐसे होंगे जो जान बूझकर किसी को दुखी करना चाहते हों। फिर भी दूसरों को अनजान में दुःख पहुँच ही जाता है। इसका प्रधान कारण प्रायः यह होता है कि उनमें चातुरी का अभाव होता है या वे विचारते नहीं कि ऐसा करने में किसी को दुःख पहुँचेगा; अथवा वे सहृदय नहीं होते वा अपने स्वार्थ पर उनका अधिक लक्ष्य होता है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम दूसरे से जब मिलें उससे हँस कर बातें करें, उससे नम्रतापूर्वक व्यवहार करें, उसका समुचित आदर करें और उसका अभ्युत्थान करें। हमें अपने इष्टमित्रों से केवल प्रेम ही नहीं करना चाहिए किंतु उन पर अपने प्रेम को प्रकट करना चाहिए। कली की सुगंधि तब तक प्रकट नहीं होती जब तक कि वह खिलती नहीं। कितने लोग यद्यपि उनके अंतःकरण में प्रेम होता

है, फिर भी अज्ञानवश वा अपनी अयोग्यता से लोगों के मन को दुखी कर देते हैं।

वाणी और चेष्टा ही ऐसे द्वार हैं जिनसे हम अपने आभ्यंतरिक भावों को दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं। हमें इनका सहारा लेना चाहिए। तभी दूसरों को हमारे आंतरिक भाव अवगत होंगे। हम कितने ऐसे लोगों को जानते हैं जो बड़े शुद्ध अंतःकरण के हैं, पर फिर भी वे अपना भाव प्रकट करना नहीं जानते और इसी लिये लोग उन्हें रूखा कहा करते हैं। हम यह नहीं कहते कि तुम, लोगों पर अपना बनावटी प्रेम प्रकट करो। ऐसा बनावटी प्रेम झूठा होता है और बहुत दिनों तक नहीं छिपता। अपने सच्चे प्रेम को प्रकट करो; नहीं तो दूसरे क्या जानेंगे कि तुम्हारे भीतर उनके प्रति कैसा भाव है।

वाक्पटुता एक गुण है। तुमने गाँवों में किसानों को देखा होगा। सायंकाल के समय जब दिन भर काम करके अपने अपने घरों को वापस आते हैं, तब वे अलाव के किनारे बैठ कर अनेक प्रकार की बातें करते हैं। कोई कोई तो मौसिम और फसल की बातें करते हैं, कितने लोग कहानियाँ कहते हैं, कितने अपने पड़ोसी की बीमारी, उसकी अवस्था आदि को पूछते हैं, कितने लोग देश देशांतरों का समाचार कहते हैं; कोई देशकाल की अवस्था पर विचार करता, कोई कुछ, कोई कुछ कहके अपना और दूसरों का मनोरंजन करता है। वहाँ बैठ

कर वे अपने और पराए सारे विषयों पर बातें करते हैं। तुम्हें बात करने का ढंग सीखना चाहिए। बातें करने से तुम अपना और दूसरे का मनोरंजन कर सकते हो। यदि दूसरे लोग तुम्हारा मनोरंजन नहीं कर सकते, तो तुम्हें उनका मनोरंजन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

कितने लोग बड़े गर्व से यह कहा करते हैं कि हमारे मन में जो आता है कह डालते हैं, अपने भावों को हम छिपाते नहीं। इसमें कोई संशय नहीं कि सच्चाई बहुत अच्छी वस्तु है। प्रत्येक मनुष्य को अपना अंतःकरण शुद्ध रखना चाहिए। मनु भगवान् कहते हैं—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

मन की शुद्धि इसमें नहीं है कि जो तुम्हारे मन में आवे, बक दो चाहे उससे जो हो। किंतु मनकी शुद्धि इसमें है कि तुम अपने मन में ऐसे भावों को उदय ही न होने दो जिनसे किसी को दुःख पहुँचे वा किसी को कुछ हानि पहुँचे। यदि किसी कारण से ऐसा भाव उदय ही हो जाय तो तुम उसके अंकुर को उसी दम तोड़ दो; कि वह वाणी वा कर्म में परिणत न होने पावे।

क्रोध और आवेश में आकर हृदय में आए उद्गार को मुँह से निकाल डालना बुद्धिमानी नहीं है और न यह कोई गुण है। यह एक दोष है जिससे मनुष्य अपने घनिष्ठ मित्र को भी अपना

शत्रु बना लेता है। ऐसे मनुष्य का संसार में कोई हित नहीं हो सकता। ऐसे लोग बनने को तो सत्यवादी बनते हैं और शुद्धान्तःकरण होने क डींग मारते हैं, पर उनमें आत्मिक बल का नितांत अभाव होता है। उनका अंतःकरण बहुत दुर्बल होता है और वे अपनी मूर्खता से सब जगह अपना बैरी उत्पन्न कर लेते हैं। वे अपने आप बैरी हैं।

क्रोधो हि शत्रुः प्रथमो नराणां देहस्थितो देहविनाशनाय।
यथास्थितः काष्ठगतो हि वह्निः स एव वह्निर्दहते शरीरम्॥

दोष दिखलाने पर क्रोध मत करो और न क्रोध की दशा में किसी का छिद्रान्वेषण करो। जो मनुष्य क्षण क्षण पर क्रुद्ध हुआ करता है, उसका कोई विश्वास नहीं करता। ऐसे लोग चाहते तो हैं दूसरों को हानि पहुँचाना, पर उलटे अपनी ही हानि कर बैठते हैं। वे लोग न दूसरें को सुखी कर सकते है और न स्वयं ही सुखी होते हैं—

क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्ट रुष्टस्तुष्टः क्षणे क्षणे।
अव्यवस्थितचित्तस्य प्रसादोऽपि भयंकरः॥

ऐसे लोगों के क्रोध और प्रसन्नता का कुछ ठिकाना नहीं रहता। कोई पुरुष उनके पास नहीं रह सकता। यदि कोई जाय भी तो वह उनके दुर्गुण से दुखी होकर शीघ्र भाग जाता है।

यदि तुम्हारे घरवाले या तुम्हारे पड़ोसी या इष्ट मित्र किसी बात पर तुम पर झुँझलाएँ या तुम्हें कटु वाक्य कहें, तो

उन पर क्रुद्ध मत हो। तुम उनकी आंतरिक अवस्था को नहीं जानते। संसार में अनेक प्रकार के मनुष्य होते हैं—ज्ञानी, अज्ञानी, उदार हृदयवाले, क्षुद्र हृदयवाले, भले, बुरे। सब की प्रकृति एक सी नहीं होती। एक बात वा घटना को भिन्न भिन्न लोग भिन्न प्रकार से देखते हैं। अंतःकरण एक शीशा है। उस पर जिस प्रकार का रंग चढ़ाओ, संसार तुम्हें वैसा ही देख पड़ेगा। संसार में कोई मनुष्य किसी को अकारण मन, वाणी या कर्म से दुःख पहुँचाना नहीं चाहता। रही यह बात कि वह तुम पर क्यों झुँझलाया या उसने तुम्हें क्यों कटु वाक्य कहा। संभव है कि उसने तुम्हारे किसी कृत्य को, जिसे तुमने चाहे उसकी भलाई ही से किया हो और वह वास्तव में युक्तियुक्त ही क्यों न हो, अपने अंतःकरण की वासना के अन्यथा होने से अपने लिये हानिकारक समझता हो। ऐसे अज्ञानी और क्षुद्रहृदय मनुष्य दया के पात्र हैं, क्रोध के पात्र नहीं। यदि तुमसे हो सके तो उन्हें समझा बुझाकर सुधारने का प्रयत्न करो और यदि उन का समझना और सुधारना तुम्हारी शक्ति के बाहर हो, तो ऐसे लोगों से दूर रहो। उन पर क्रोध कर उनसे लड़ो मत। इससे वे तुम्हारे शत्रु हो जायँगे।

संसार में जन्म से कोई किसी का मित्र या शत्रु नहीं होता। व्यवहार से ही मनुष्य लोगों को अपना शत्रु या मित्र बना लेते हैं। तुमसे जहाँ तक हो सके, किसी को अपना शत्रु न बनाओ, सब से प्रेम और मित्रता का बर्ताव करो। यदि

इस पर भी कोई तुम से बिगड़ ही जाय और तुम्हें भला बुरा कहे, तो ऐसे आदमी का साथ छोड़ दो, उससे कम मिला करो और उदासीन भाव धारण कर लो। किसी से शत्रुता करने से उदासीन बनकर रहना अच्छा है।

दोषनिदर्शन समझदार के लिये अत्यंत लाभदायक है। वह अपने दोषों को जान कर त्यागने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार वह दिन दिन उन्नति करता जाता है। पर मूर्ख मनुष्य इससे लाभ नहीं उठा सकता। वह उन्हें छोड़ने की जगह हठपूर्वक उनके करने का प्रयत्न करता है। यदि तुम्हें किसी का दोषनिदर्शन करना हो, तो नम्रतापूर्वक बड़े कोमल शब्दों में गंभीरता से करो। क्रोध मत करो और न उसके साथ ऐसा वर्ताव करो कि उसे कष्ट पहुँचे। बच्चों के दोषनिदर्शन में तुम्हें और अधिक सावधान रहना चाहिए। उत्तम उपाय तो यह है कि यदि तुम्हें किसी को उसका दोष दिखाना हो या उसे कुछ बुरा भला कहना हो तो उसे एकांत में बुला कर कहो। एकांत में कहने का प्रभाव बहुत अच्छा पड़ता है। वह अपने दोषों को भलमनसाहत से स्वीकार कर लेगा और तुम्हारी शिक्षा को हितकर समझेगा। वह उसे स्वीकार करने में आनाकानी नहीं करेगा और आगे को अपना आप सुधार कर लेगा। इससे तुम्हारा उपदेश सार्थक होगा और उसका सुधार होगा।

उन लोगों को प्रसन्न रखने के लिये, जिनके बीच में हमें

रहना है, विशेष कठिनाई उठाने की आवश्यकता नहीं है; न इसके लिये केवल शुद्ध अन्तःकरण का होना पर्य्याप्त है। इसके लिये ढंग, पहचान और अभ्यास की आवश्यकता है। काम को बनाने और बिगाड़ने दोनों के लिये अभ्यास की आवश्यकता है। सब से यथायोग्य बर्ताव करो, बड़ों का आदर करो, छोटों से प्रेम रखो, पड़ोसियों और मित्रों से सद्भाव रखो। गृहस्थ को उत्तम आदर्श रामायण से बढ़कर कहीं नहीं मिल सकता। राम, लक्ष्मण, भरत आदि का भ्रातृस्नेह, सीताराम का दांपत्य प्रेम, कौशल्या का वात्सल्य, राम के साथ सुग्रीव और विभीषण की मित्रता और स्नेह, हनुमान की स्वामिभक्ति इत्यादि ऐसे शिक्षाप्रद और भावपूर्ण हैं कि उनके अनुकरण से मनुष्य अपने घर को स्वर्ग और अपने जीवन को सुखमय बना सकता है।

गृहस्थाश्रम में संभव है कि तुम्हें अनेक अवसर ऐसे प्राप्त हों जब तुम्हें दुःख पहुँचे। ऐसी अवस्था में तुम्हें उचित है कि तुम सावधानी से काम लो, ऊबो मत और न घबराओ। कोई काम शीघ्रता से करने में प्रवृत्त मत हो। क्रोध मत करो और न आवेश में आओ। सोचो, समझो और विचार से काम लो। कोई काम क्रोध और आवेश के वशीभूत होकर मत करो। जहाँ तक हो सके, देर लगाओ। ठंढा पानी पी लो और सो रहो। साँझ का क्रोध सवेरे नहीं रह जाता। यदि तुम क्रोध या आवेश में कोई पत्र लिख चुके हो, तो उसे

उसी दम मत भेजो; कम से कम एक रात तो डाल रखो। यह निश्चय है कि सवेरे तुम उस पत्र को नहीं भेजोगे और फाड़ कर फेंक दोगे।

बुद्धौ कलुषिभूतायां विकारे समुपस्थिते।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति॥
न क्रोध यातुधानस्य धीमान् गच्छेद्विधेयताम्।
निपीतभ्रातृरुधिरः प्राप निंदां वृकोदरः॥

सदा भलेमानुसों का साथ करो। पंडितों और विचारवानों में बैठना उठना रखो। नीचों के संग से सदा दूर रहो। संसर्ग का प्रभाव बड़ा प्रबल होता है। उच्च कुल में उत्पन्न और विद्वान पुरुष भी नीचों के साथ में पड़कर नीच हो जाते हैं। मित्र करने में मित्र के गुणों की परीक्षा करना अत्यंत आवश्यक है। सदा गुणवान् शांत प्रकृतिवाले विचारवान् पुरुषों से मित्रता रखो। शास्त्र में कहा है—

पंडितैः सह सांगत्यं पंडितैः सह संकथाम्।
पंडितैः सह मित्रत्वं कुर्वाणो नावसीदति॥

स्मरण रखो कि कोई पुरुष उत्तम कुल में जन्म लेने मात्र से भलामानुस नहीं हो सकता। भलमनसाहत के लिये विद्या, अनुभव, सत्संग और आचार की बहुत आवश्यकता है। संसार में तुम्हें कितने ऐसे पुरुष मिलेंगे जो अच्छे कुल के हैं और देखने में भलेमानस जान पड़ते हैं, पर कुछ काल तक परीक्षा करने पर तुम्हें पता लगेगा कि वे लोग भलेमानस की खाल ओढ़े

हैं। उनका आचार व्यवहार, बातचीत नीचों से भी कहीं गिरी हैं। बाहरी आडंबर में मत फँसो। अच्छे प्रकार परीक्षा करके किसी की संगत करो और उसे अपना मित्र बनाओ। मिलने के साथ किसी के विषय में बिना उसकी परीक्षा किये कोई भली या बुरी सम्मति स्थिर मत कर लो। महीनों क्या, कभी तो वर्षों परीक्षा करने पर तुम किसी के गुण और दोष को परख पाओगे। सच्चे मित्र से मनुष्य को संसार में जितनी सहायता मिलती है, दुष्ट मित्र से उतनी ही हानि पहुँचती है। सदा ऐसे पुरुषों से मित्रता रखो जिनका उठना बैठना विद्वानों, धार्मिकों और ऊँची श्रेणी के लोगों में हो, जो शांत, दृढ़प्रतिज्ञ और दृढ़ संकल्प हों, सत्यवादी वाक्‌पटु और जितेंद्रिय हों, धीर और विचारवान् हों, जरा जरा सी बात पर बिगड़ा न करें, चापलूस और क्षुद्रहृदय न हों। संगत का प्रभाव बहुत अच्छा पड़ता है। तुलसीदास कहते हैं—

खल सुधरहिँ सतसंगति पाई।
पारस परसि कुधातु सुहाई॥

भलों से जितने ही मिलने जुलने और मित्रता करने की आवश्यकता है, उतनी दुष्टों की संगत से बचने की आवश्यकता है। पर स्मरण रखो कि नीच पुरुषों और दुष्टों से भूलकर भी बैर मत करो। दुष्ट यदि भलाई नहीं कर सकते, तो उन्हें बुराई करने में क्या देर लगती है!

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्यायालंकृतोपि सन् ।
मणिनाभूपितःसर्वः किमसौ न भयंकरः ॥

धन और जन का गर्व मत करो। उनकी तो कथा ही क्या, स्वयं तुम्हारा जीवन भी चिरस्थायी नहीं है। स्मरण रखो कि मनुष्य का शरीर बार बार नहीं मिलता। जो कुछ तुम से बने, कर लो। फिर तुम्हें ऐसा सुअवसर प्राप्त नहीं होगा। मानव जीवन पानी का बुलबुला है, आज है कल नहीं। इस क्षणभंगुर जीवन में किसी से गर्वपूर्वक मत बोलो, न किसी को घृणा की दृष्टि से देखो। सबसे नम्रतापूर्वक बातें करो जिसमें तुम्हारे न रहने पर भले लोग तुम्हारा नाम आदर-पूर्वक लें।

स जीवति गुणा यस्य धर्मोयस्य स जीवति।
गुणी धर्मविहीनो यो निष्फलं तस्य जीवनम् ॥

गृहस्थाश्रम का मुख्य द्वार और प्रधान अंग दारपरिग्रह है। हमारे देश में विवाह की बड़ी दुर्दशा हो रही है। शास्त्रों में विवाह एक धार्मिक कृत्य और आवश्यक संस्कार माना गया है। पर आजकल का विवाह गुड़िया गुड़वे का विवाह या खेल हो रहा है। लोगों को अपने लड़कों के विवाह की जितनी चिंता रहती है, उतनी चिंता उन्हें उनकी शिक्षा की नहीं रहती। पिता माता का धर्म संतानों को शिक्षित करना और उन्हें योग्य बनाना है, न कि उनका विवाह करना। विवाह

लेनदेन की प्रथा सब से अधिक हानिकारक है। लोग

दायज के लोभ से अपने लड़कों के भविष्य को सदा के लिये नष्ट कर देते हैं। उनका स्वास्थ्य बिगाड़ देते हैं और अपनी उन की आयु, वुद्धि और वल को हीन कर देते हैं। यहाँ लड़के और लड़कियों का विवाह नहीं होता, धन ऐश्वर्य और समधियों का विवाह होता है। हम यह नहीं कहते कि माता पिता का संतानों पर कोई स्वत्व नहीं, पर ऐसे कृत्य में जिसका परिणाम उन्हें स्वयं भोगना है और जिसे माता पिता बाँट नहीं सकते, उन वेचारों की सम्मति भी तो ले ली जाया करती अथवा कम से कम उन्हें इसका ज्ञान तो हो जाया करता कि हम दोनों का गला सदा के लिये बाँधा जा रहा है।

मनु भगवान् ने अपने धर्मशास्त्र में आठ प्रकार का विवाह लिखा है। उन आठों में ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्रजापत्य श्रेष्ठ तथा गांधर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच अधम माने गए हैं। धर्मशास्त्र में ये विवाह पूर्व पूर्वश्रेष्ठ माने गए हैं। पर कामसूत्र के आचार्यों का कथन है—

पूर्वः पूर्वः प्रधानं स्याद्विवाहो धर्मतः स्थितेः।
पूर्वाभावे ततः कार्य्यो यो,य उत्तर उत्तरः ॥१॥
व्यूढानां हि विवाहानामनुरागः फलं यतः।
मध्यमोऽपि हि सद्योगो गन्धर्वस्तेन पूजितः ॥२॥
सुखत्वादवहुक्लेशादपि चावरणादिह।
अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्वः प्रवरो मतः ॥३॥

धर्म की स्थिति के अनुसार ब्राह्मादि आठ विवाहों में

पूर्व पूर्व प्रधान माने गए हैं और मनुष्य को पूर्व पूर्व के अभाव में उत्तर उत्तर करना चाहिए। पर विवाह के करने का मुख्य फल परस्पर अनुराग है; इसलिये गांधर्व विवाह यद्यपि मध्यम है, फिर भी शुभगुणयुक्त होने से आदरणीय है। इसमें सुख ही सुख है, क्लेश नहीं होता। वरण करने की झंझट नहीं है और यह अनुरागात्मक है; इसलिये गांधर्व विवाह सर्वश्रेष्ठ है।

आजकल के विवाह प्रायः लोभ के कारण होते हैं और इस का परिणाम अत्यंत भयंकर है। यद्यपि शास्त्रोक्त आठ प्रकार के विवाहों में आर्ष विवाह में वर से एक या दो बैल लेने की विधि * शास्त्रों में है, पर मनु भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में शुल्क लेने का निषेध किया है—

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्।
अल्पो प्येवं महान्वापि विक्रयस्तावदेवसः॥

आर्ष विवाह में किसी किसी ने दो बैलों का शुल्क लेना कहा है, वह मृषा ही है। चाहे शुल्क कम हो या अधिक, उसे लेकर विवाह करना बेचना ही है।

आजकल प्रायः देखा जाता है कि हमारे देश में बालविवाह और विषम विवाह की कुप्रथा चारो ओर प्रचलित है। बाल-विवाह का बुरा परिणाम जो हमारे समाज को मिल रहा है,

---

* एक गोमिथुन वापि वारादादाय यलतः।
कन्याप्रदान विधिवदार्षधर्मः स उच्यते॥

वह अत्यंत शोचनीय है। हमारे देश में कदाचित् ही कोई युवा पुरुष ऐसा मिलेगा जिसका स्वास्थ्य अच्छा हो। जहाँ अन्य सभ्य देशों में लोग तीस पैंतीस वर्ष की अवस्था में युवा होते हैं, वहाँ हमारे देश में उस अवस्था तक पहुँचते पहुँचते लोग बुड्ढे हो जाते हैं, उनके बाल पक जाते हैं, दाँत झड़ जाते हैं, आँखों की दृष्टि कम हो जाती है, मुख पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं और पचास साठ की आयु तक पहुँचते पहुँचते या तो चल बसते हैं अथवा मृतवत् जीवन के दिन बिताते हैं। कितनों को तो बचपन ही में बुढ़ापा आ जाता है; कितने कालकवलित हो जाते हैं। उनकी संतान प्रायः अस्वस्थ, रोगी, साहसहीन और दुर्बुद्धि होती है। पहले तो उनकी आयु ही अल्प होती है और बहुत कम चालीस पचास तक की आयु को पहुँचते हैं, सो भी बलहीन और श्रीहीन होकर। और देशों में लोग सौ सौ वर्ष जीते हैं, पर यहाँ सौ का नाम केवल प्रार्थना के मंत्रों 'पृश्येम शरदः शतम्' इत्यादि में ही रह गया है। इसमें बेचारे बच्चों का दोष नहीं है, उनके माता पिता अधिक दोषी हैं। कहने के लिये तो वे उनके माता पिता हैं, पर यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो वे लोग अपनी संतानों के साथ जो वर्ताव करते हैं, वह शत्रु भी न करेगा। संसार में कौन ऐसा नीच पुरुष होगा जो अपनी संतान को सदा के लिये रोगी हीन दीन बनाकर उन्हें अधिक दिन तक जीने से वंचित करेगा! पर हमारे देश के दुर्भाग्य से, यहाँ एक दो नहीं सैंकड़े

यदि निन्नानवे नहीं तो नब्बे ऐसे माता पिता हैं। इसके अतिरिक्त विषम विवाह का भी प्रचार यहाँ कम नहीं है। कहीं बीस वर्ष की कन्या है तो सात आठ वर्ष का वर कहीं सात आठ वर्ष की कन्या है तो चालीस पचास वर्ष का पुरुष! इतना ही नहीं यहाँ ऐसे भी वुड्ढे हैं जो पचास साठ वर्ष के ऊपर के होने पर भी दस बारह वर्ष की कन्याओं से विवाह करना चाहते हैं और उनके अभाव में सात आठ वर्ष की कन्याओं से विवाह कर उनको क्या अपने को सदा के लिये कलंकित करते हैं। इन दोनों कुप्रथाओं के प्रचार के कारण हमारे देश में बाल विधवाओं की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। जिस अवस्था में बच्चे कपड़ा भी नहीं पहन सकते, यदि देखा जाय तो उस अवस्था की विवाहिताओं और इतना ही नहीं विधवाओं की संख्या हमारे देश में लाखों की मिलेगी जिसे देखकर कौन ऐसा पाषाण हृदय होगा जिसे रोमांच न होता होगा और जिसका कलेजा न पिघलता होगा। उनकी अवस्था देखकर ईश्वरचंद्र विद्यासागर जैसे देश हितैषियों ने उनका पुनर्विवाह करने पर जोर दिया और शास्त्र तथा युक्ति द्वारा उसे कर्तव्य बतलाया; पर समाज ने अब तक उसका करना स्वीकार नहीं किया।

भारतवर्ष की स्त्रियाँ अपने स्वार्थत्याग और सतीत्व के लिये संसार भर की स्त्रियों में प्रख्यात और सर्वश्रेष्ठ हैं। वे अनपढ़, असभ्य और अशिक्षिता क्यों न हों, पर वे सच्ची सती

और स्वार्थत्याग करनेवाली हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। वे सच्ची पितृभक्त हैं, चाहे पिता उनका विवाह उनकी ज्ञात या अज्ञात दशा में बच्चे, बूढ़े, अयोग्य अपाहिज चाहे जिससे कर दें। वे आजीवन उनकी आज्ञा मानकर अपना सारा सुख परित्याग कर उसका साथ देती हैं और उनके मरने पर आजीवन वैधव्य का दुःख भोगती हैं। यह हमारे देश के लिये इस अवनति के समय में कुछ कम गौरव की बात नहीं है।

हमारे देश के लड़कों और लड़कियों के पिता और माताओं को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे लोग यदि अपनी संतानों का हित चाहते हों तो भूलकर भी उनका विवाह बचपन में न करें। उनका कर्तव्य अपनी संतानों को सुशिक्षित करना है न कि उनका जीवन बालविवाह कर सदा के लिये दुःखमय बनाना। यह कुप्रथा आचार्य्यकुल या गुरुकुल की प्रणाली लुप्त हो जाने ही के कारण चल पड़ी है। तभी से लड़कों का ब्रह्मचर्य्याश्रम पालन करना छूट गया और भारतवर्ष में अनेक प्रकार की बुराइयाँ फैलीं। देशहितैषी नवयुवकों को उचित है कि यदि उनके पिता माता बाल्यावस्था में विवाह करना चाहें तो वे उन्हें रोकें और यथा शक्य बालविवाह कर अपने और अपनी संतानों के जीवन को दुःखमय न बनावें। यह वह बुराई है जिसका प्रतिकार नहीं हो सकता।

हिंदू जाति के अतिरिक्त किसी जाति का विवाह धार्मिक

नहीं है। यहाँ विवाह सुख के लिये नहीं किंतु मिलकर गार्हस्थ्य धर्म पालन करने के लिये किया जाता है। इसलिये लोगों को गार्हस्थ धर्म का भार उठाने के लिये एक ऐसी संगिनी ढूँढ़नी चाहिए जो उनकी सवर्णा होने पर भी आश्रम धर्म के पालन करने में उनकी सहायक हो: जो उन्हें सदा प्रसन्न और संतुष्ट रखे तथा प्रोत्साहन देती रहे। गृहस्थ का जीवन तभी सुखमय हो सकता है, जब दंपती परस्पर प्रसन्नतापूर्वक संतुष्ट रहें और तभी वे गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों का पालन कर सकते हैं। मनुजी ने कहा है—

> सन्तुष्टो भार्य्यया भर्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च।
> तस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वैध्रुवम्॥

गृहस्थों का सब से परमावश्यक कर्तव्य जो संतान के प्रति है, वह उनको सुशिक्षित करना है और उन्हें सच्चा मनुष्य बनाना है। सब से अधिक आवश्यक तो यह है कि बच्चों को जहाँ तक हो सके, झूठ बोलने की लत न पड़ने देनी चाहिए और उन्हें निर्भय और साहसी बनाना चाहिए। कितने लोग बच्चों को डराया करते हैं; इससे लड़के भीरु और साहस-हीन हो जाते हैं। बच्चों के साथ ऐसा बर्ताव करो कि वे तुमसे डरें न, किंतु तुम्हें श्रद्धा और भक्ति से देखें। कितने लोग बच्चों पर अपना इतना आतंक रखते हैं कि बच्चे उनसे सदा काल की तरह डरते रहते हैं। ऐसे लोगों के बच्चे उनके सामने बड़े सीधे सादे दिखाई देते हैं, पर उनकी अनुपस्थिति

में बड़े बड़े खोटे काम करते हैं। बच्चों को तनिक तनिक अपराध पर मारना ठीक नहीं है। इससे वे तुम से सदा अपने अपराध को छिपाने की चेष्टा करते रहेंगे। जितना काम समझाने से चलता है, उतना दंड से नहीं। बच्चों के अंतःकरण में सहानुभूति, अनुकंपा आदि सद्गुणों को प्रविष्ट करना चाहिए और उनमें ऐसी शक्ति उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए कि वे स्वभाव से सद्गुणों का अवलंबन और सत्कर्मों का आचरण करें न कि तुम्हारे भय से। उनका जैसा व्यवहार तुम्हारी उपस्थिति में हो, वैसा ही तुम्हारी अनुपस्थिति में भी हो। उनकी आत्मा को स्वतंत्रता दो और उन्हें स्वावलंबन सिखाओ। ऐसे पुत्र और उनके पिता दोनों सर्वत्र पूज्य और आदरणीय होते हैं।

माता शत्रुः पिता वैरी याभ्यां बालो न शिक्षितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये वको यथा॥

गृहस्थ का सब से मुख्य धर्म अतिथि सत्कार है। भारतवर्ष अतिथि-सेवा के लिये प्रसिद्ध था। हिंदू शास्त्रों में अतिथि-सेवा पाँच प्रधान महायज्ञों में मानी गई है। वेदों से लेकर पुराणों तक में अतिथिसेवा की प्रशसा की गई है और बिना अतिथि को दिए गृहस्थ को किसी वस्तु के ग्रहण करने का निषेध किया गया है और उसे पाप बतलाया गया है। मनुजी ने लिखा है—

अतिथिर्यस्य भग्नाशोगृहात्प्रतिनिवर्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति॥

यद्यपि नगरों में इस प्रथा का अभाव सा हो गया है, फिर भी गाँवों में अब तक इस प्राचीन आर्य्य धर्म का पालन देखा जाता है। शिक्षितों को इस प्राचीन धर्म का अवलंबन करना चाहिए। यह ऐसा कृत्य है जिसे निर्धन से निर्धन मनुष्य भी कर सकता है। शास्त्रों में कहा है—

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहेनोच्छिद्यंते कदाचन॥

अपने कर्तव्यों को आलस्य त्याग कर पालन करने से मनुष्य परम दरिद्र होने पर भी अपने जीवन को आनंदमय बना सकता है और अपनी झोंपड़ी में भी पैर फैला सुखपूर्वक चिंता रहित सो सकता है, जो बड़े बड़े महाराजों को भी नसीब नहीं हो सकता। वास्तव में ऐसे ही गृहस्थ सच्चे गृहस्थ हैं। उन्हीं का जीवन सफल है और उन्ही का घर चाहे वह फूस ही का क्यों न हो, सच्चा घर कहाने योग्य है—

सविप्रपादोदककर्दमानि।
सवेदशास्त्रध्वनिगर्जितानि॥
स्वाहास्वधाकारनिरंतराणि।
स्वानंदतुल्यानि गृहाणि तानि॥

नवाँ परिच्छेद

धर्म

यदिहात्मनि वा परत्र वा परमं सत्यमसत्यवर्जितम्।
मनसा वचसाथ कर्मणा नुगमस्तस्य तु धर्म उच्यते॥

धर्म कर्तव्य का विषय है। वह एक सापेक्ष पदार्थ है, निरपेक्ष नहीं। इसके लिये कर्त्ता के अतिरिक्त किसी ऐसे व्यक्ति या पदार्थ की आवश्यकता है जिसके प्रति कर्ता कर्म को करे। यदि माता पिता न हों तो पुत्र का धर्म क्या! यदि आचार्य्य न हो तो शिष्य का कर्तव्य ही क्या है। इसी प्रकार कुल, देश, जाति, समाज, पितापुत्र, स्त्री पति, भाई बंधु, इष्ट मित्र, राजा प्रजा, सेव्य सेवक, इत्यादि ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी अपेक्षा कर्त्ता को धर्म के अनुष्ठान में है। कितनी अवस्थाओं में धर्म में देश और काल की अपेक्षा है। धर्म के लिये तीन प्रधान बातों की आवश्यकता है—एक श्रद्धा, दूसरा विश्वास और तीसरा आचरण।

हिंदू शास्त्रों में भिन्न भिन्न आचार्य्यों ने धर्म के भिन्न भिन्न लक्षण किए है और सब लोगों ने धर्म के लिये शब्द की प्रमाणता को स्वीकार किया है। वैशेषिक दर्शन में * जिससे

---

* यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धि. सधर्म. तद्वचनारास्नायस्य प्रमाणम्।

अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो, धर्म माना है; और धर्म को बतलाने से आम्नाय या वेद की प्रमाणता स्वीकार की गई है। मीमांसा शास्त्र * में जिसके करने की प्रेरणा या विधि वेदों में पाई जाय, उसे धर्म माना है। मनु जी लिखते हैं—

श्रुतिःस्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियचात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः धर्मशास्त्रंतु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्य्यो नास्तिको वेदनिंदकः॥

अर्थात् श्रुति, स्मृति, सदाचार और जो अपने को प्रिय जान पड़े, ये चार प्रकार के लक्षण साक्षाद्धर्म के कहे गए हैं। वेद श्रुति है और स्मृति धर्मशास्त्र है। ये दोनों सब अर्थों में तर्क करने योग्य नहीं हैं; क्योंकि इन्हीं दोनों से धर्म निकला है। जो द्विज हेतुशास्त्र या तर्क का आश्रय लेकर इन दोना की निंदा करता है, वह वेद-निंदक और नास्तिक है और साधु-समाज से निकाल देने योग्य है।

धर्म श्रद्धा और विश्वासमूलक है और विधि सदाचार ही उसमें प्रमाण है। यह कर्तव्य का विषय है, तर्क का विषय नहीं। धर्म ही एक ऐसा बंधन है जो समाज को दृढ़ और

---

* चोदनालक्षणोऽर्थोधर्म।

स्थिर रखे हुआ है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह उन नियमों का, जिनसे समाज बँधा हुआ है, पालन करे। उसमें तर्क वितर्क न करे। यदि कोई मनुष्य भ्रमवश समाज के नियम का पालन नहीं करता, तो वह अपनी हानि करता है। समाज के नियम पालने ही में उसकी रक्षा है और उसके त्यागने ही में उसका विनाश। मनुजी कहते हैं—

धर्म एव हतो हंति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हंतव्यो मा नो धर्मोहतोवधीत् ॥

धर्म मारने पर मारनेवाले को मार डालता है और रक्षा करने से रक्षा करनेवाले की रक्षा करता है; इसलिये धर्म का नाश न करना चाहिए। ऐसा न हो कि धर्म उलटे हमारा ही नाश कर दे।

सभी धर्मवाले इसे स्वीकार करते हैं कि धर्म में तर्क-बुद्धि अच्छी नहीं है। आजकल के लोगों में तर्क-बुद्धि बढ़ गई है। प्रत्येक धर्मवाले दूसरे के धर्म का खंडन करते हैं और उनकी जाँच पड़ताल करने में युक्ति और तर्क से काम लेते हैं। इसका परिमाण यह होता है कि आपस में ईर्ष्या द्वेष बढ़ता है और सहानुभूति, जो मनुष्यों का सर्वोत्कृष्ट गुण है, जाती रहती है। वे दूसरे के धर्मों की निंदा करते हैं और उसके बदले में दूसरे उनके धर्म को भला बुरा कहते हैं। तर्क और परीक्षा ज्ञान-क्षेत्र के साधन हैं, कर्मक्षेत्र के साधन नहीं। कर्मक्षेत्र में तो केवल विधि और सदाचार ही एक मात्र साधन है। संसार में

कोई ऐसा धर्म नहीं हो सकता जो युक्ति और तर्क के सामने परोक्षा में ठहर सके। कितने लोग, जो धर्म के तत्व को नहीं जानते, उन बकवादियों के जाल में फँसकर अपने पैतृक धर्म को त्याग पिता माता, इष्ट मित्र, कुटुम्ब परिवार, भाई बंधु सब से नाता तोड़ मुँह मोड़ दूसरा धर्म ग्रहण करते हैं और नाना प्रकार के दुःख भोगते और कष्ट उठाते हैं। वे यह नहीं समझते कि प्रत्येक धर्म अपने अनुयायियों के लिये अच्छा है—

सर्वस्य स्वपिता श्रेयान्विद्वान्वा मूर्ख एव वा।
तथैव स्वविधिःश्रेयान्सफलो निष्फलोपि वा॥

सब मनुष्यों के लिये उनका पिता चाहे विद्वान हो या मूर्ख हो, पूज्य है। इसी प्रकार सब के लिये उनके धर्म की विधि श्रेय है, चाहे वह सफल हो या निष्फल हो। गीता में भगवान ने कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मोविगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः पहधर्मोभयावहः॥

पराए धर्म का अनुष्ठान करने से अपने गुणहीन धर्म का आचरण श्रेय है। अपने धर्म का पालन करते हुए शरीरपात करना अच्छा है, पराया धर्म भयकारक है।

धर्म के जानने के प्रधान स्थान शास्त्र और समाज हैं। शास्त्रों में मनुष्य की श्रद्धा होनी चाहिए। शास्त्र किसीको बलात् धर्म करने पर बाध्य नहीं कर सकते। शास्त्र राजाज्ञा नहीं हैं,

धर्माचार्य्यों की आज्ञाएँ हैं। राजाज्ञा भंग करने पर राजा मनुष्य को दंड दे सकता है, पर शास्त्र यद्यपि दंड का विधान भी करे, तो भी वह बिना समाज के किसी को दंड नहीं दे सकते। इसलिये शास्त्रों की विधि को वही मनुष्य मान सकता है जिसे अपने पूर्वज आप्तों पर श्रद्धा और भक्ति है। शास्त्रों में यद्यपि विधि के अतिरिक्त मूर्खों के प्रलोभन और डराने के लिये अर्थवाद हैं, पर वे केवल विहित कर्मों में प्रवृत्ति और अविहित या निषिद्ध कर्मों से निवृत्ति कराने मात्र के लिये हैं। समझदार मनुष्य को धर्म अर्थवाद के लोभ से न करना चाहिए और न अर्थवाद को यथार्थ ही मानना चाहिए। लोभ या भय से किया हुआ धर्म उत्तम धर्म नहीं है। कहा है—

> यः स्वर्वेश्यादिलोभेन निरयेभ्यो भयेन वा ।
> भूतप्रेतपिशाचादितृप्तये वा विमूढधीः ॥
> धर्मं करोति तत्तस्य वाणिज्यं नैवधर्मधीः ।
> वेश्या प्रलोभनेनैव निरयेभ्यो भयेन वा ॥
> ये यामिकभयादेव चौर्य्यंनैव प्रकुर्वते ।
> चार्वाकास्तेन कुर्वन्ति विधीन्दंडभयोज्झितान् ॥
> ये रक्षिणामभावेपि नैव चौर्य्यादि कुर्वते ।
> धर्मभक्त्यैव सभ्यास्ते कुर्युर्निर्हेतुकान्विधीन् ॥

जो मूर्ख स्वर्ग में अप्सराओं के लोभ से अथवा नरक में यातना के भय से या भूतप्रेत पिशाचादि की तृप्ति के लिये धर्मानुष्ठान करता है, वह वाणिज्य व्यापार है, धर्म नहीं; क्योंकि

वह उसे इसलिये करता है कि स्वर्ग में उसे अप्सरादि मिलेंगी या नरक में उसे यातना नहीं मिलेगी। जो पुरुष यमलोक की यातना के भय से चोरी नहीं करते, वे नास्तिक हैं। वे विधि का पालन नहीं करते किंतु जो कुछ करते हैं, वह दंड के भय से करते हैं। सच्चे धार्मिक सभ्य वही हैं जो चाहे रक्षक हो या न हो, चोरी नहीं करते। वेही निर्हेतुक विधि का पालन करनेवाले हैं। योगशास्त्र में भी सच्चा वैराग्य उसी को कहा गया है जिस में सांसारिक या शास्त्र में कथित विषयों में तृष्णा न रह जाय।

समाज के नियमों का पालन मनुष्य समाज के भय से करता है। पर मनुष्य को सामाजिक धर्म का पालन करने में भी अपने को समाज का अंग मानना चाहिए। स्वयं भगवान् कृष्णचंद्र गीता में कहते हैं—

न मे पर्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन
नाना वाप्तमवाप्तव्यं वर्तएवचकर्मणि।
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतेन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्य्यां कर्मचेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।

हे अर्जुन, मुझे तीनों लोकों में कुछ करना नहीं है और न कोई ऐसी वस्तु है जो मुझे प्राप्त न हो; तो भी मैं कर्म करता

रहता हूँ। यदि मैं आलस्य त्याग कर कर्म न करूँ तो दूसरे मनुष्य भी तो मेरा ही अनुकरण करेंगे। फिर मेरे कर्म न करने से लोक या समाज का नाश हो जायगा: और मैं वर्णसंकरों का कर्ता होऊँगा और सारा समाज उच्छृंखल होकर नष्ट भ्रष्ट हो जायगा।

हमारा यह कर्तव्य होना चाहिए कि जिस धर्म या संप्रदाय में हम हों, उसके नियमा और विधियों का पालन करें और उसमें कभी तर्क वितर्क न करें। सदा आलस्यादि का परित्याग करें। कभी किसी अन्य धर्म या मतावलंबी के साथ विवाद न करें। जैसे हमारे धर्मों की विधियाँ हमारे लिये हैं, वैसे उनके धर्मों की विधियाँ उनके लिये हैं। प्रत्येक धर्म के आचार्य्यो ने अपने धर्म के नियमों और विधियों को वहाँ वहाँ के देश, काल आदि की अवस्था पर ध्यान देकर निर्धारित किया है। मनुष्यों को अपने अपने धर्म के चिह्नों को, चाहे वे सफल हों या निष्फल, प्रमाद छोड़कर धारण करना चाहिए। वे चिह्न उस उस धर्म के द्योतक मात्र हैं। उस धर्म का अनुगामी होने पर उसका धारण करना आवश्यक है। बाह्य चिह्न कोई धर्मानुष्ठान बाँध कर नहीं कराते और न आचरण ही धर्म के चिह्नों के धारण करने मात्र से धार्मिक हो सकता है। ऐसे मनुष्यों को हिंदू शास्त्रों में धर्मध्वजी कहा गया है। मनुष्य धार्मिक तभी हो सकता है जब वह धर्मों का अनुष्ठान करे। कहा है—

यज्ञः सूत्रंशिखा चेति द्विजातेर्बाह्यलक्षणम्।
तस्माद्द्विजो न भवति द्विजत्वे तत्तु धार्य्यते ॥

धर्म का दूसरा और सब से बड़ा उपयोगी अंग उपासना है। प्रत्येक मनुष्य को अपना जीवन सुधारने के लिये एक आदर्श मानने की आवश्यकता है। संसार में कोई पुरुष ऐसा नहीं मिल सकता जो सर्वथा दोषशून्य हो, जिसमें केवल गुण ही गुण हों, दोष न हो। इसलिये मनुष्य के लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि वह अपने लिये एक ऐसे आदर्श पुरुष को चुने जिसमें केवल गुण ही गुण हों, दोष एक भी न हो। ऐसे ही पुरुष को लोग उपास्य देव कहते हैं। धर्माचार्य्यों ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार ऐसे पुरुष को चुना है। वैदिक काल में सुर्य्य, अग्नि आदि प्रकृतिपुंजों में ऋषियों ने अलौकिक गुणों का आरोप करके उनकी उपासना की है। पौराणिक काल में राम कृष्णादि मर्य्यादापुरुषोत्तमों में विद्वानों ने अलौकिक गुणों का आरोप करके उनकी उपासना की शिक्षा दी है। आधुनिक युग में वुद्ध, महावीर क्राइस्ट, कबीर, नानक आदि आदर्श पुरुषों में लोगों ने अलौकिक गुणों का आरोप कर के उनकी उपासना का प्रचार किया। साधारण पुरुषों के लिये उपासना की बड़ी आवश्यकता है। बिना उपासना के वे अपने जीवन को कभी सुधार नहीं सकते। उपासक का कर्त्तव्य है कि वह प्रति दिन कम से कम दो चार बार अपने उपास्य देव का चिंतन स्मरण ध्यान आदि अवश्य किया करे और उसे अपना लक्ष्य बना

कर उसके आदर्श पर अपने जीवन को ढाले। मनुष्य-जीवन के सुधारने के लिये उपासना की वैसी ही आवश्यकता है जैसे बच्चों को सुंदर अक्षर लिखने के लिये दूसरों के लिखे हुए के अभ्यास की। जैसा जिसका उपास्य देव है, यदि उपासक चाहे, और अभ्यास करे तो वह वैसा बन सकता है। यदि तुम वीर बनना चाहते हो तो वीर पुरुष को आदर्श मान कर उसकी उपासना करो; दयालु बनना चाहते हो तो दयालु की, विद्वान् बनना चाहते हो तो विद्वान् की उपासना करो। इसी प्रकार जिस गुण की तुम्हें आवश्यकता हो, उस गुणसंपन्न उपास्य देव की उपासना करो तो अवश्य वे गुण तुममें आ जायँगे।

उपासना के लिये सब से सुगम रीति प्रतीक द्वारा उपासना करने की है। यद्यपि पिता माता या आचार्य्य को साक्षात् उपासना की जा सकती है और मनु आदि शास्त्रकारों ने उनकी साक्षादुपासना की बड़ी महिमा बतलाई है, फिर भी उनकी अनुपस्थिति में उनकी उपासना के लिये प्रतीक की आवश्यकता प्रतीत होगी। इसलिये उपास्य के लिये उपासना के प्रतीक से बढ़कर कोई दूसरा सुगम उपाय नहीं है। कहा भी है—

> जननीजनकं गुरूंस्तथा, पदसंवाहनभोजनादिभिः।
> भजति स्वयमेव यत्नवानभिगम्यावहितोजितश्रमः॥
> अभिगम्य पुनः स्वयं यदा न समाराधयितुक्षमेत तान्।
> स्मरणादिभिरेव साश्रुभिः शमयत्युत्सुकतां हृदस्तदा॥

स्मरणा ह्युपयोगिपुस्तकं प्रतिमा लक्ष्म तथा परंभजन्।
विरहेष्वनुपेक्षितक्रियोऽसविधस्थंगुरुमर्चयेज्जनः ॥
अपचारमसद्वचस्तथा विनिरस्यावहितेन चेतसा।
चरितानि वचांसि चाश्रयेदनवद्यान्यनिशं महोद्यमः ॥

अर्थात् माता पिता, आचार्य्यादि यदि उपस्थित हों तो उनकी उपासना मनुष्य को उनकी सेवा शुश्रूषा द्वारा करनी चाहिए। यदि वे न हों और उनकी उपासना साक्षात् न हो सके तो ऐसी अवस्था में शुद्ध अन्तःकरण से उनका स्मरणादि करके उनकी उपासना की जा सकती है। पुस्तक, प्रतिमा और पादुका आदि अन्य चिह्न उनके स्मरण की उपयोगी वस्तु हैं। इनके द्वारा उनकी उपासना की जा सकती है। उनके अव्याहत और सद्वचनों और चरित्रों को श्रवण करना और अनुकरण करना उपासक के लिये लाभदायक होते हैं।

जिन धर्मों में देशकाल कुलादि का भेद है, उन्हें अशाश्वत् धर्म कहते हैं। उनमें समानता नहीं होती। उनका संसार के सभी मनुष्य सब देशकाल और अवस्था में न पालन ही कर सकते हैं और न उनका पालन करना ही उचित है। वे एकदेशीय हैं और सदा से ऐसे धर्मों में देशकालानुसार परिवर्तन होता आया है और होता रहेगा। एक ही कृत्य यदि एक स्थान में कर्तव्य है, तो वह दूसरे स्थान में अकर्तव्य है। इसके अतिरिक्त एक प्रकार का और धर्म है जो मनुष्य मात्र के लिये सब देश और काल में समान अनुष्ठेय है। उसे शाश्वत धर्म

कहते हैं। इसे सभी धर्म और संप्रदायवाले श्रेष्ठ मानते हैं। इस पर सब का एकमत है।

न निजप्रतिकूलमाचरेन्मनुजेन्यत्र जनः कदाचन ।
इतिशश्वतधर्ममूचिरेऽपि चिरत्नाः किल सत्यमूलकम् ॥

जो अपने को अप्रिय लगे उसे दूसरे के प्रति कदापि न करना यही सत्यमूलक शाश्वत धर्म है। यही समस्त धर्मों का मूल है। इसी की नीव पर संसार के सारे धर्मों की सृष्टि की गई है। सब धर्म इसी की शाखा प्रशाखाएँ हैं। मनु भगवान ने अपनी स्मृति में इसी शाश्वत धर्म को 'स्वस्यच प्रियमात्मनः' अर्थात् जो अपने को प्रिय जान पड़े कहा और इसी के सहकारी और भेदों को लेकर धर्म को दस लक्षणात्मक बनाया है। मनुप्रोक्त धर्म के दस लक्षण ये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म-लक्षणम् ॥

धृति, क्षमा, दम, स्तेय. शौच, इंद्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध ये दस धर्म के लक्षण हैं। इन दसों को संसार के सभी मतवाले सभी देश और काल में कर्तव्य बताते हैं। सभ्य से लेकर असभ्य समाज तक सर्वत्र इनका समान आदर है। जिस प्रकार भिन्न भिन्न समाजों, देशों, संप्रदायों और जातियों के धर्म उन समाजों, देशों, संप्रदायों और जातियों को बाँधनेवाले हैं, उससे कहीं अधिक यह शाश्वत धर्म मनुष्य समाज को बाँध कर उसे दृढ़ करनेवाला है। यह किसी

अशाश्वत धर्म का विरोधी नहीं है। प्रत्येक धर्मावलंबी को अपने धर्म का पालन करते हुए इस धर्म को कभी न त्यागना चाहिए। जिस मनुष्य में शाश्वत धर्म नहीं है, वह आडंबर भले ही करे, पर वह अशाश्वत धर्म का भी पालन नहीं कर सकता।

धर्म का फल है सुख। विना धर्म के मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता। उसका सारा जीवन दुःखमय हो जाता है। वह न स्वयं सुखी रह सकता है और न वह दूसरे को सुख पहुँचा सकता है। वह दोनों लोकों का नाश करता है।

धर्मं प्रसंगादपि नाचरंति पापं प्रयत्नेन समाचरंति।
आश्चर्यमेतद्धि मनुष्यलोकेऽमृतं परित्यज्य विषं पिवंति॥

दसवाँ परिच्छेद

ज्ञान

यद्वस्तु यादृक् तदलं तथैव जानन्मनीषी परमार्थभक्तः ।
अनारतं कर्मफलं लभेत धर्मार्थकामान्महनीयकीर्तिः ॥

संसार में समस्त प्राणियों में विशेष कर मनुष्यों में दो प्रबल इच्छाएँ होती हैं—एक तो किसी वस्तु की प्राप्ति की, दूसरी किसी वस्तु को जानने की; और ये दोनों प्रकार की इच्छाएँ आलस्य और अज्ञात वस्तुओं के प्रति उत्पन्न होती हैं। पहली इच्छा को तो मनुष्य अपनी अयोग्यता, उस वस्तु की दुष्प्राप्यता, या संतोषवृत्ति आदि से दबा सकता है, पर दूसरी इच्छा को वह कभी नहीं दबा सकता। उस वस्तु को जानने की इच्छा उसमें आजीवन बनी रहती है और वह बार बार उसके अंतःकरण में उमड़ उमड़कर उसे बेचैन किया करती है। संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो उसे उस इच्छा से रोक सके। इसके लिये न मनुष्य अपनी अयोग्यता पर विचार करता है और न वह उसके लिये अपने भाग्य ही को दोष दे सकता है। संतोष भी उसे इच्छा से मुक्त नहीं करा सकता और वह उसे दुर्ज्ञेय या अज्ञेय ही समझता है। यह ऐसी बलवती इच्छा है जो मनुष्य के साथ आजीवन

लगी रहती है जिसकी तृप्ति के लिये वह सहस्रों प्रयत्न किया करता है।

ज्ञान शब्द से सत्य और मिथ्या दोनों प्रकार के ज्ञान लिए जाते हैं। परलोक और शास्त्र दोनों में ज्ञान सत्य ज्ञान के लिये और अज्ञान मिथ्या ज्ञान के लिये रूढ़ि माना गया है; और जहाँ जहाँ ज्ञान शब्द का प्रयोग होता है, उससे वक्ता का अभिप्राय सत्य ज्ञान ही होता है। शास्त्रों में ज्ञान दो प्रकार का माना गया है—एक सांख्य और दूसरा योग। किसी वस्तु के प्रत्येक अंश को एक एक करके जानने का नाम सांख्य ज्ञान है; और उसी को समष्टि रूप से एकीभाव से जानने का नाम योग ज्ञान है। दोनों प्रकार के ज्ञान से ज्ञानी पुरुष को समान ही लाभ पहुँचता है; दोनों का फल एक ही है। भगवान गीता में कहते हैं—

यत्सांख्यैर्गम्यते स्थानं तद्योगैरभिगम्यते।
एकं सांख्यं च योगंच प्रवदंति मनीषिणः॥

सांख्य से लोग जिस स्थान पर पहुँचते हैं, योग से भी वही पहुँचते हैं। इसलिये समझदार सांख्य और योग को एक ही कहते हैं।

मनुष्य का स्वभाव है कि वह जिस वस्तु को जानना चाहता है और उसे अपने आलस्य, असावधानी, अवनधानता या किसी और कारण से नहीं जान पाता तो, अपनी तुष्टि के लिये उसके विषय में अनेक कल्पनाएँ करता है। ऐसी

वस्तु को वह सदा कुतूहल, आदर और भय की दृष्टि से देखता रहता है। मनुष्य के अज्ञान का प्रधान कारण भ्रम है। किसी वस्तु को अन्य समझने को भ्रम कहते हैं। यह भ्रम मनुष्य को कई कारणों से होता है जिनमें मुख्य प्रमाणों का जो प्रमा या ज्ञान के मुख्य साधन हैं, ठीक काम में न लाना, अविद्या, अनवधानता, अविवेक, साहस का अभाव और परीक्षा न करना है। इसके अतिरिक्त राग और द्वेष भी अज्ञान के कारण हैं। ये मनुष्य को परीक्षा करने के लिये प्रोत्साहित नहीं होने देते और विवेक के विरोधी हैं।

विद्वानों ने तीन प्रमाण माने हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इनमें पहले दो मुख्य और अंतिम गौण है। जो ज्ञान हमें किसी वस्तु को देखने सुनने सूँघने चखने और छूने से प्राप्त होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। पर यह प्रमाण हमको तभी उस वस्तु का बोध करा सकता है जब वह वस्तु हमारी इंद्रियों के आयतन के अंतर्गत हो; अन्यथा उसमें भ्रम और संदेह के होने की अधिक संभावना है जो ज्ञान के विरोधी हैं। सब मनुष्यों की इंद्रियों के आयतन समान नहीं होते; किसी के आयतन छोटे होते हैं और किसी के बड़े। आजकल के विद्वानों ने यंत्रों के आविष्कार द्वारा मनुष्यों की इंद्रियों के आयतनों को कई गुना बढ़ा दिया है जिनके सहारे से मनुष्यों को ऐसी वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना सहज हो गया है जो उनकी इंद्रियों के आयतनों से बाहर और बहुत दूर हैं। दूसरा प्रमाण अनुमान

है। इससे हम किसी वस्तु के ज्ञान को, चाहे वह हमसे देश और काल के व्यवधान से कितने ही दूर और तिरोहित क्यों न हो, प्राप्त कर सकते हैं। यह प्रमाण जितना ही उपकारी है, उतना ही इसमें भ्रम होने की आशंका है। इसलिये इस प्रमाण को काम में लाने के लिये मनुष्य को विशेष सावधानी, परीक्षा, अनुभव करने और दक्ष होने की आवश्यकता है।

दिव्यशक्तिरनुमैव नचान्या
व्याहतिप्रणय एव तथान्ध्यम्।
भाविभूतमथ यच्चभवत्त-
द्विप्रकृष्टमनुमानविगाह्यम्॥

इस प्रमाण के लिये यह आवश्यक है कि दो ऐसे अंश हों जिनमें व्यक्ति संबद्ध हों और उनमें एक का साक्षात् या प्रत्यक्ष हो, तभी इस प्रमाण द्वारा विशुद्ध प्रमाज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। व्याप्य से व्यापक का ज्ञान या व्यापक से व्याप्य का ज्ञान इसी प्रमाण द्वारा प्राप्त होता है। कभी कभी लोग साह-चर्य्य को भ्रमवश व्याप्ति समझकर भारी भ्रम में पड़ते हैं। ज्ञान क्षेत्र के लिये मुख्य प्रमाण यही दो हैं। शब्द प्रमाण इसमें केवल सहायक मात्र है। वह कर्मक्षेत्र का प्रमाण है और वहीं उसकी प्रधानता है।

ज्ञान की प्राप्ति के लिये पाँच बातों की बड़ी आवश्यकता है। वे ये हैं—विद्या, विवेक, साहस, अवधानता और परीक्षा। संसार के प्राचीन और अर्वाचीन आप्त विद्वानों से लेकर

आधुनिक आप्त विद्वानों ने अपनी परीक्षा और अनुभव द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया है, वही विद्या है। ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले जिज्ञासु के लिये यह परमावश्यक है कि वह उन सब का संग्रह करे और जाने। इससे वह ऐसी वस्तुओं के ज्ञान, को जिसे प्राचीन विद्वानों ने अपनी परीक्षा और अनुभवों द्वारा प्राप्त किया है, सहज में प्राप्त कर लेगा; और उन्हें जानने के लिये जिसे उन महानुभावों ने सहस्रों वर्ष तक अटूट श्रम उठाया है, उसे पुनः श्रम उठाना न पड़ेगा। इससे वह अपनी आयु के एक बहुत बड़े अंश को, जिसे वह उन वस्तुओं को साक्षात् करने में खोता, बचा लेगा और बिना श्रम ही उनके संगृहीत विद्या भांडार से, जिसे वह अपने श्रम से सहस्रों वर्ष की असंभव आयु पाने पर भी प्राप्त नही कर सकता था, उसी प्रकार लाभ उठा सकेगा मानो उसने उसे स्वयं अपने श्रम से प्राप्त किया हो।

साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् करने का नाम विवेक है। इसी शक्ति या गुण से दो वस्तुओं में भेद जाना जा सकता है। सत्य असत्य, गुण अवगुण, हित अनहित, भले बुरे में इसी के द्वारा मनुष्य भेद जान सकता है। यह गुण मनुष्य के बड़े काम का है। अनुमान से यह गुण बड़ा ही उपकारी है। संसार में आज तक जितना ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह सब इसी की सहायता से प्राप्त हुआ है।

साहस से ही मनुष्य किसी की परीक्षा में प्रवृत्त होता है और बार बार लगातार अटूट परिश्रम द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता है। चित्त की एकाग्रता का नाम अवधानता है। बिना चित्त के एकाग्र हुए मनुष्य किसी वस्तु को न प्रत्यक्ष ही कर सकता है और न ठीक तौर से उसे अनुमान ही द्वारा जान सकता हैं। प्रमाणों द्वारा किसी वस्तु का बराबर ज्ञान प्राप्त करना परीक्षा है। बिना इसके मनुष्य व्याप्ति ज्ञान को नहीं पा सकता। उपनिषदों में कहा है—

'श्रोतव्यं मन्तव्यं निदिध्यासितव्यं'

शास्त्रों की बातों को सुनना चाहिए; फिर उन पर विचार करना चाहिए और परीक्षा द्वारा साक्षात् करना चाहिए।

जिज्ञासु को ज्ञान प्राप्त तभी हो सकता है जब उसका अंतःकरण राग और द्वेष से शून्य हो और वह परीक्षक बनकर तथ्यातथ्य का निश्चय करने पर उद्यत हो। मनुष्य ने आज तक जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है, वह इन्हीं सद्गुणों के प्रभाव से उसे प्राप्त हुए हैं। संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो परिवर्तनशील न हो। किसी में परिवर्तन शीघ्र शीघ्र होता है, किसी में धीरे धीरे; पर परिणाम सब में होते हैं। यह परिणाम प्रतिक्षण होता रहता है जो उस समय तो मालूम नहीं पड़ता, पर कुछ दिनों के बाद बहुत बड़ा भेद पड़ जाता है। एक बच्चे को लीजिए। यद्यपि क्षण क्षण में उसकी दशा बदलती जाती है और वह बढ़ता जाता है, पर देखनेवाले को पहर दो पहर क्या

दिन दो दिन या महीने भर में भी कुछ अंतर नहीं मालूम होता। वही बच्चा उसी धीमे धीमे परिवर्तन के कारण दो चार वर्ष में कुछ का कुछ हो जाता है। बालक से मार, कुकुमार से युवा, युवा से वृद्ध और फिर जीर्ण हो जाता है। यह सब परिवर्तन कारण से होता है। यही कारण द्वारा परिवर्तन इस चराचर जगत का कारण है। यह कारण कार्य्य का संबंध अनादि काल से चला आया है और अनंत काल तक चला जायगा।

हम लोग नित्य प्रति देखते हैं कि संसार में कोई दो पदार्थ सब दशा में समान नहीं हैं; तिस पर भी वे सब कितने हो अंशों में समान हैं। यह सब समानता और भेद अकारण नहीं है। एक ही वृक्ष के दो बीजों से दो पेड़ उगते हैं और वे समान रूप से जल पाते हैं। एक ही धरती दोनों को उगाती है। फिर भी उन दोनों पेड़ों की आकृति आदि में कितना अंतर पड़ जाता है। एक ही पेड़ में दो फल फलते हैं; पर उन दोनों फलों की आकृतियाँ समान नहीं होतीं। कहाँ तक कहें, किसी पेड़ के दो पत्ते बराबर और समान नहीं होते। यह संसार विचित्रता से भरा है। इसमें अकारण एक अणु भी नहीं हिलता।

प्राचीन काल के लोगों ने जब संसार को देखा, तो उन लोगों ने अपने ही समान सब को चेतन और ज्ञान-संपन्न समझा। उन लोगों ने अग्नि, वायु, सूर्य्य, चन्द्रादि सब को चेतन समझा; और इसी लिये उनको चेतन मनुष्यों की तरह संबोधन

किया और उनसे अपनी सहायता करने की प्रार्थना की। धीरे धीरे उनको जड़ और चेतन का ज्ञान हुआ और वे लोग यह समझने लगे कि संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं। एक जड़, दूसरे चेतन। धीरे धीरे उन लोगों का ज्ञान भण्डार बढ़ने लगा और अपने अनुमान और अनुभव से उन्होंने इस विश्व के अनेक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त किया। उन लोगों ने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया, वह सब केवल उनके साहस, अनुभव और परीक्षा का फल था, जो उन लोगों ने केवल अपनी असहाय इंद्रियों द्वारा प्राप्त किया था। वे सदा अपने भ्रमों का संशोधन करते रहे और उन्होंने सत्य का ग्रहण करना अपना उद्देश्य बनाया था।

संसार में कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता। हमारे ऋषिगण साक्षात् कृत धर्मा मात्र थे। जिन वस्तुओं का उन लोगों ने साक्षात् किया और उससे जो कुछ उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ, उसे उन लोगों ने हम लोगों के लिये संग्रह कर दिया। यही उनकी महती कृपा है! हमारा कर्तव्य है कि उसे जानें और उसकी परीक्षा करें। यदि उसमें किसी प्रकार का भ्रम या भूल प्रतीत हो तो उसका संशोधन करें। शब्द प्रमाण ज्ञान क्षेत्र में सहायक मात्र हो सकता है और उसकी प्रमाणता केवल कर्म-क्षेत्र में है, सो भी विधि मात्र की। ज्ञान क्षेत्र में प्रत्यक्ष और अनुमान ही मुख्य प्रमाण हैं जिनके द्वारा सत्य ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

सब से आवश्यक काम जो मनुष्य को ज्ञान क्षेत्र में पैर

रखने के पहले करना पड़ता है, वह यह है कि वह इस बात का पहले निर्णय कर ले कि अमुक विषय कर्म का है या ज्ञान का। यदि वह ज्ञान का विषय है तो उसे उसकी परीक्षा में प्रवृत्त होना चाहिए। यह क्या वस्तु, है कैसी है, इसमें क्या गुण है इत्यादि ज्ञान का विषय है। इसमें शब्द की प्रमाणता नहीं है। हाँ, हम प्राचीनों के विचारों से सहायता भले ही ले सकते हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम उस वस्तु को देखें विचारें और जाँच करें। ऐसा करने से संभव है कि हम उस वस्तु के विषय में उससे कहीं अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकें जो हमारे पूर्वजों ने किया था।

सत्य बात मानने में हमें पक्षपात और रागद्वेष नहीं करना चाहिए। सत्य चाहे अपने पूर्वजों का हो या विदेशियों का, सर्वत्र ग्राह्य और आदरणीय है। उसकी प्रतिष्ठा सत्य होने से है न कि इससे कि वह किसका है। सत्य सबका है और मनुष्य मात्र उसका अधिकारी है। सूर्य्य सब के लिये समान प्रकाश करता है: अग्नि सबको समान गर्मी पहुँचाती है। इसी प्रकार सत्य भी सबके लिये समान है। दो और दो सब के जोड़ने से चार होगा; चाहे कोई स्वदेशी जोड़े या विदेशी; आज का हो या कोई आज से दस हजार वर्ष पहले का।

जिस प्रकार आज कल के लोग भ्रम करते हैं, उसी प्रकार प्राचीनों ने भी भ्रम किया है। पृथिवी का 'अचला' नाम ही इस बात को प्रमाणित कर रहा है कि प्राचीन काल में लोग

पृथिवी को स्थिर मानते थे। पर इतने ही से क्या आज भी कोई पृथिवी को समझदार स्थिर मानने को उद्यत हो सकता है? इसी प्रकार प्राचीन काल के विद्वानों के लेखों में सूर्य्य को पृथिवी के चारों ओर घूमता हुआ लिखा गया है और देखने से भी ऐसा ही दिखाई देता है; पर क्या आज कल कोई पढ़ा-लिखा इस बात को मानने के लिये उद्यत होगा जब कि विद्वानों ने यह निश्चय कर दिया है कि सूर्य्य पृथिवी की परिक्रमा नहीं करता किंतु पृथिवी ही सूर्य्य के चारों ओर घूमती है? ऐसी कितनी ही बातें हैं जिन्हें आज कल के विद्वानों ने निश्चय किया है और जो प्राचीनों के विचारों से बिलकुल विपरीत हैं, जिन्हें वे लोग सामग्री के अभाव से या किसी और कारण या असावधानी के कारण नहीं जान सके थे। इसी प्रकार आजकल के विद्वानों में भी भ्रम होने की आशंका है। जिज्ञासु का कर्तव्य है कि ऐसी बातों में जिनमें विद्वानों का मतभेद हो और जो मीमांसित होकर सर्वमान्य न हों, सदा प्रत्यक्ष और अनुमान की सहायता से परीक्षा द्वारा सत्यासत्य का निर्णय करे—

> प्रमादरागद्वेषादिजन्याव्याहतवादिता।
> प्राच्येष्वपि च नव्येषु सर्वत्रैवोपलभ्यते॥
> तस्माद्व्याहतं यत्स्यात्प्राच्यं वा नव्यमेव वा।
> तत्स्वीकार्य्यं परीक्षायै मिथ्यात्वं व्याहते स्फुटम्॥

अज्ञान या व्याहतवादिता प्राचीनों और आधुनिकों दोनों

की बातों में मिल सकती है। वह प्रमाद राग और द्वेष के कारण है। इसलिये चाहे प्राचीनों की हो या आधुनिकों को हो, जो अव्याहत हो उसी की परीक्षा में मनुष्यों को प्रवृत्त होना चाहिए। यदि वह निश्चित सिद्धांतों से विरुद्ध हो तो उसे मिथ्या समझकर छोड़ देना चाहिए।

प्रत्यक्ष और अनुमान से जो विरुद्ध हो, उसे व्याहत कहते हैं। परीक्षा करते समय कभी कभी प्रत्यक्ष और अनुमान में भी विरोध दिखाई पड़ेगा, जैसे प्रायः दर्शकों को जादू के तमाशों में दिखाई पड़ता है। पर इतने ही से परीक्षकों को घबराना न चाहिए। सत्य का निर्णय तभी हो सकता है जब प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से समान परिणाम निकले। जब प्रत्यक्ष से कुछ और दिखलाई दे और अनुमान उसके विपरीत सिद्ध हो, तो परीक्षक को पुनः पुनः उसकी परीक्षा करनी चाहिए और सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिए।

सबसे अधिक भ्रम उस स्थान पर होता है जहाँ कार्य्य से कारण का निर्णय करना पड़ता है। यह तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि कोई कार्य्य विना कारण के नहीं होता; और कारण से कार्य्य की उत्पत्ति तभी होती है, जब उस कारण में उस कार्य्य के उत्पन्न करने की योग्यता होती है। जौ से जौ उत्पन्न हो सकता है, गेहूँ नहीं। आम के बीज से जब उगेगा, तब आम ही उगेगा; कटहल, पीपल आदि उससे नहीं उत्पन्न हो सकते। कितनी अवस्थाओं में लोग भ्रमवश कारण का ठीक पता न

पाकर साहचर्य्य से ऐसी वस्तु को कारण मान बैठते हैं जिसमें न तो कार्य्य को उत्पन्न करने की योग्यता होती है और न वह उसकी उत्पत्ति में सहायक ही होती है।

कारण के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह सदा इतना स्पष्ट हो कि परीक्षक को कार्य्य के साथ ही साथ वह भी प्रत्यक्ष हो। कितनी अवस्थाओं में कारण के उपमर्द से कार्य्य उत्पन्न होता है। कभी वह इतना गुप्त होता है कि कार्य्य तो स्पष्ट दिखाई पड़ता है, पर कारण का पता बड़ी छानबीन और कठिनाई से लगता है। कहीं कहीं कारण और कार्य्य में देश काल का व्यवधान होता है। कितनी अवस्थाओं में अनेक कारणों की सम्मिलित शक्ति से कार्य्य की उत्पत्ति होती है। ऐसी अवस्था में कारण का निश्चय करना और कठिन हो जाता है जब उसको गुप्त रखने में किसी चालाक और धूर्त मनुष्य का हाथ होता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य को बहुत सावधान रहना चाहिए और साहचर्य्य के भ्रम से बचना चाहिए। बड़े बड़े बुद्धिमानों और विद्वानों को भी ऐसी अवस्था में भ्रम में पड़ कर धूर्तों का श्रद्धालु भक्त बनते देखा गया है। ऐसे चालाकों और धूर्तों से सदा बचे रहना चाहिए। ये लोग नाना रूप धर कर कहीं साधु, कहीं सिद्ध, कहीं महात्मा, कहीं कुछ कहीं कुछ बनकर सीधे सादे लोगों को प्रतारित किया करते हैं।

नीचा अशुचयश्चैव विद्योद्योगपराङ्मुखाः।
इच्छंतो जनसम्मानं सिद्धिं प्रख्यापयन्त्यमी ॥

संसार में कोई सर्वज्ञ नहीं है और न हो सकता है। इसलिये यदि हम किसी कार्य्य के कारण को ठीक ठीक नहीं जान सकते, तो इसमें आश्चर्य्य ही क्या है। प्राचीन काल के ऋषि-मुनियों से लेकर आज तक के विद्वानों ने जहाँ तक ज्ञान प्राप्त किया है, वह सब परीक्षा और साक्षात् करने ही से किया है और आगे भी इसी से प्राप्त करेंगे। संसार में जितने पदार्थ हैं, सब सहेतुक हैं। प्राचीनों और नवीनों की परीक्षा द्वारा जो कुछ ज्ञान प्राप्त हुए हैं, उनका परीक्षा-क्रम और परिणाम, जिस पर वे पहुँचे हैं, हमें यही बतला रहे हैं कि कारण में कार्य्य उत्पन्न करने की शक्ति होती है। फिर, यदि हम ठीक कारण को न जान सकें तो इतने ही से हमें साहचर्य्य के भ्रम में पड़कर ऐसी वस्तु को कभी कारण न मानना चाहिए जिसमें उस कार्य्य के करने की शक्ति न हो। क्या अल्पज्ञ होने पर हम इतना भी नहीं जान सकते कि जिसे हम कारण मान रहे हैं, उसमें उस कार्य्य के उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है।

मनुष्य का स्वभाव है कि वह किसी न किसी प्रकार से अपनी उत्कंठा को निवृत्त करता है और ऐसा करते समय वह अवधान को हाथ से खो देता है। पौराणिक काल में जब लोगों ने चंद्रमा को देखा तो उसका बिंब सूर्य्य से कहीं बड़ा दिखाई पड़ा; पर जब सूर्य्य के प्रकाश और चंद्र के प्रकाश को मिलाया तो एक अधिक उष्ण और दूसरा उसके विरुद्ध अधिक

शीतल जान पड़ा। इससे भ्रम में पड़कर उन लोगों ने इस पर तो विचार नहीं किया कि सूर्य्य का प्रकाश वास्तविक है और चंद्रमा का प्रतिबिंबित, बल्कि उलटे यह मान बैठे कि चंद्रमा सूर्य्य से बहुत दूर है। इसी प्रकार कितनी अवस्था में लोग, जब उन्हें वास्तविक ज्ञान नहीं होता तब, अटकल से बच्चों की तरह काम लेने लगते हैं। चंद्रमा की कालिमा के विषय में इसी प्रकार प्राचीन काल में नाना प्रकार की कल्पनाएँ की गई थीं। किसी ने तो यह कल्पना की कि जब देवताओं और असुरों में युद्ध हुआ था, तब देवताओं ने हार कर पृथिवी की मिट्टी लेकर चंद्रमा के ऊपर इसलिये छोड़ी थी कि यदि असुर लोग यहाँ अधिक ऊधम मचावेंगे, तो हम लोग यहाँ से भाग जायँगे और चंद्रलोक में अपना घर बना कर रहेंगे। किसी ने यह लिख मारा कि यज्ञों का धूआँ उड़कर चंद्रमा में एकत्र हुआ है; उससे कालिमा पड़ गई है। इसी प्रकार अनेक ऐसी कल्पनाएँ हैं जो प्राचीनों ने भ्रमवश अपनी उत्कंठा को निवृत्त करने के लिये की थीं।

प्राचीनों की उक्तियों और उनके रचित ग्रंथों से सत्य का संग्रह करने में बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। न तो उन्हें सर्वांश में भ्रमशून्य मानना चाहिए और न उन्हें सर्वथा भ्रमपूर्ण मानना चाहिए। किसी ग्रंथविशेष से जिज्ञासु को न राग करना चाहिए और न द्वेष, किंतु सच्चा राग सत्य से होना चाहिए और द्वेष मिथ्या से। प्राचीनों का भ्रम जिन जिन

स्थलों में हो, उनका संशोधन परीक्षा द्वारा करना चाहिए। कहा है—

प्रवर्तयःसरणि मिमां परीक्षया
विशोधयन्य इह कृतास्थितेर्भ्रमान्।
नवंनवं प्रणयति शास्त्रमात्मयान्
प्रयात्यसौ पितृऋणनिष्कृतिं कृती॥

कभी कभी प्रत्यक्ष ज्ञान भी भ्रमात्मक होता है। हम लोग देखते हैं कि जब हम नाव पर या रेल पर सवार होते हैं, तब नदी के किनारे या रेल की सड़क के आसपास की भूमि चलती हुई दिखाई पड़ती है। अब यदि हम यहाँ अनुमान को प्रधानता न दें तो हम को भ्रम होने की संभावना है। इसलिये सत्य ज्ञान वही हो सकता है जो हमें प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों की एकता से प्राप्त हो। कभी कभी हम एक ऐसी वस्तु को, जो अनुमान या प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध नहीं होती, सिद्ध मानकर उसके आधार पर अनुमान करते हैं और भ्रमवश ऐसे अनुमान के भास द्वारा प्राप्त ज्ञान को ठीक मान बैठते हैं। ऐसे ज्ञान, जो असिद्ध ज्ञान के आधार पर अनुमान करने से प्राप्त होते हैं, प्रायः मिथ्या होते हैं अथवा अन्योन्याश्रय दोषग्रस्त होते हैं। अनुमान तब तक शुद्ध ज्ञान का साधन नहीं हो सकता जब तक वह प्रत्यक्ष या साक्षात् कृत ज्ञान के आधार पर न हो।

कितने लोग उपमान को भी एक प्रमाण मानते हैं और उसे भी ज्ञान का साधन समझते हैं। उपमान अलंकार का

विषय है; उससे केवल श्रोता को उपमेय का अनुमान हो सकता है। उपमान के केवल एक गुण के साम्य द्वारा उपमेय का अनुमान कराया जाता है, सर्वांश में उपमान और उपमेय एक नहीं हो सकते। यह प्रमाण शब्द और अनुमान का मिश्रित प्रमाण है। ज्ञान क्षेत्र के लिये केवल प्रत्यक्ष और अनुमान ही की प्रमाणता है। इन्हीं दोनों प्रमाणों को उचित रीति से काम में लाने से मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

सांख्यज्ञान के अतिरिक्त योगज्ञान अत्यंत उपयोगी है। इसी ज्ञान की प्राप्ति के लिये संसार के समस्त दर्शनों की सृष्टि हुई है। प्राचीन काल के दार्शनिकों से लेकर आज तक के दार्शनिकों ने इस प्रश्न के उत्तर के लिये सिर खपाया है कि यह संसार कहाँ से आया? मनुष्य की चेतनता क्या है? ये सब प्रश्न अदृष्टसंबंधी हैं। इन प्रश्नों का उत्तर प्रत्येक मनुष्य अपने अपने योग्यतानुसार देता है। कितने लोग इस संसार को एक प्रधान कारण से उत्पन्न मानते है। वे लोग यह अनुमान कर लेते हैं कि संसार में एक समय ऐसा था जब यहाँ कुछ नही था, फिर धीरे धीरे उसी मूल कारण से सब कुछ उत्पन्न हुआ। कुछ लोग यह मानते हैं और कल्पना करते हैं कि संसार को एक कर्ता ने बनाया। वह सब कुछ कर सकता है। उसने जगत की सामग्री को अपनी इच्छा से उत्पन्न किया। कितने लोगों को इस पर संतोष नहीं होता। वे लोग ईश्वर के साथ ही साथ यह भी मानते हैं कि उसके पास संसार को उत्पन्न करने की सामग्री

भी उपस्थित थी और उसने उसी सामग्री से सृष्टि की रचना की। चेतनता के विषय में कितने तो इसे जड़ों के संयोग से उत्पन्न मानते हैं। कितने उसको नित्य और अविनाशी मानते हैं। उसे अविनाशी मान कर वे लोग स्वर्ग, नरक, आवागमन, वंध-मोक्ष आदि की कल्पना करते हैं। ऐसी कल्पना का आधार प्रायः उनका ऐसा अनुमान होता है जो प्रत्यक्ष साक्षात् ज्ञान के आधार पर अवलंबित नहीं होता। ऐसे सिद्धांत प्रायः अन्योन्यश्रय दोषों से दूषित होते हैं; जैसे संसार की सृष्टि से उसके मूल कारण या कर्त्ता का अनुमान और मूल कारण या कर्त्ता से संसार की सृष्टि का अनुमान। इसी प्रकार जीव या चेतनता की नित्यता से स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्मादि का अनुमान और पुनर्जन्मादि से जीव की नित्यता का अनुमान। इनमें एक किसी असिद्ध को सिद्ध मानकर वे दूसरे की सिद्धि करते हैं; पर किसी सिद्ध को आधार मानकर अनुमान नहीं करते।

कितने लोग पदार्थों के दो भेद करते हैं—एक ज्ञेय दूसरा अज्ञेय। पर उनका ऐसा करना केवल कल्पना है। संसार में अज्ञेय पदार्थ कोई हो ही नहीं सकता। अज्ञेय पदार्थ मानना वैसा ही है जैसे आधुनिक वैशेषिकवालों का अभाव नामक सातवाँ पदार्थ मानना। हम ससार में उसे पदार्थ ही नहीं कह सकते और न हमें उसकी सत्ता का बोध ही हो सकता है जिसे हम जान न सकें। यह और बात है कि हमको

उसके संबंध में पूरा ज्ञान एक बार में न प्राप्त हो, पर इतने ही से हम उसे अज्ञेय नहीं कह सकते । हमें संसार के समस्त पदार्थों का ज्ञान नहीं है । पर इतने ही से क्या हम उन पदार्थों को जिनका हमें ज्ञान नहीं है, अज्ञेय मान सकते हैं ? प्राचीन काल से आज तक के विद्वान् नित्य नए नए पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते आए हैं और प्राप्त करते हैं, आगे भी प्राप्त करते जायँगे ।

इस परिवर्तनशील संसार में किसी अपरिणामी पदार्थ को ढूँढ़ना मनमोदक खाना और व्यर्थ श्रम करना है । इसी प्रकार इस अनादि अनंत परिणामधारा के आदि और अंत का पता चलाने के लिये व्यर्थ श्रम करना अपनी अयोग्यता का परिचय देना है । कितने लोग यह देखकर कि संसार के सभी पदार्थ उत्पत्ति और नाशवाले हैं, संसार के आदि और अंत की कल्पना करके उसके लिये आदि कारण या कर्ता की कल्पना या अनुमान करते हैं । यह उनकी बड़ी भारी भूल है । क्या घटावच्छिन्न होने से आकाश अवच्छिन्न हो सकता है अथवा पल और दंड से मित काल का मान हो सकता है ?

तत्त्वं तदेतत्परिणामि नित्यं दृष्टंहिनात्रापरिणामि किंचित् ।
सर्वात्मनोच्छित्तिरसंभवैव कस्यापि सर्वात्मनिसाकथं स्यात् ॥
नश्यन्विशेषः परिणाममेति परं विशेषे सुधियां स्फुटन्तत् ।
इयं तु नित्यां परिणामधारा संसारवारांनिधिरेतदात्मा ॥

इस संसार में केवल हमारा ब्रह्मांड ही नहीं है, इस अनंत

आकाश में अनगिनित ब्रह्मांड हैं। प्रतिक्षण कितने ब्रह्मांड बनते, और कितने बिगड़ते रहते हैं। यह न कभी शून्य था, न है, और न होगा। हमारा इसका आदि अंत मानना और यह कल्पना करना कि किसी समय में यह शून्य था और फिर शून्य हो जायगा, अपनी अज्ञानता का परिचय देना है। इसी भ्रम में पड़कर संसार के भिन्न भिन्न मतवादियों ने संसार की सृष्टि के लिये इसके आदि और अंत की कल्पना करके अनेक प्रकार की मिथ्या कल्पनाएँ कर डाली हैं। कितने लोग संसार को नियम के सूत्र में बद्ध देख इसके नियंता को ढूँढ़ने और उसकी मनमानी कल्पना करने का ठेका ले लेते हैं। यह नहीं सोचते कि दिक्कालावच्छिन्न नियम का नियन्ता हो सकता है; पर ऐसे नियम का जिसका उच्छेद नहीं, जो अनादि काल से प्रवर्तित है, नियंता नहीं हो सकता। कितने लोग यह कहते हैं कि ऐसा मानने से अनवस्था दोष आता है। पर क्या यह उचित है कि जब वास्तव में यह संसार अनादि और अनंत है, तो फिर केवल अनवस्था दोष से बचने के लिये इसके आदि और अंत की कल्पना कर डालना हमारी भूल नहीं तो क्या है? कितने लोग इस परिवर्तनशील संसार को क्षणभंगुर कह कर इससे पृथक् सर्वदा एकरस और निराकार, निर्विकार ईश्वर या ब्रह्म की कल्पना कर उसके लिये माथापच्ची करते हैं। कितने लोग अपने भ्रम से संसार को जड़ प्रकृति से संभूत मानते हैं और प्रत्येक चेतन को नित्य, एकरस और अचल

निराकार मानते हैं, पर यह संसार जड़ और चेतनमय है। ये दोनों जड़ता और चेतनता उसकी छाया हैं। एक ऋषि ने कहा है—

यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।

जिसकी छाया अमृत और मृत्यु या जीवन मरण चेतन और अचेतन आदि* है, वह कौन देवता है? उसके लिये हम अपना हव्य प्रदान करें।

चेतनता को एकरस माननेवाले अपनी इस कल्पना की नींव पर स्वर्ग, नरक आवागमनादि के महल बनाते हैं: पर वे यह नहीं विचारते कि जिस नींव पर हम अपना मनोगत प्रासाद बना रहे हैं, वह दृढ़ भूमि क्या भूमि ही नहीं है। हम देखते हैं कि संसार के सभी प्राणियों और वनस्पतियों में चेतनता की मात्रा समान नहीं है। फिर चैतन्य आत्मा एकरस कहाँ ठहरी? ऐसे लोग जन्मांतरादि का कारण कर्म भोग मानते हैं; पर कर्म का संबंध शरीर के साथ है। कर्म का भोग भी संसार में है। हम मानते हैं कि कर्म का उच्छेद नहीं है। कर्म का फल अवश्य मिलता है, चाहे कर्ता स्वयं भोगे अथवा

---

* भूमिरापोऽनलो वायु. खं मनो बुद्धि रेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मेऽराम्।, जीवभूता महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयाम॥ मत्त. परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय। मयिसर्वमिदं प्रोतंसूत्रे मणिगणा इव॥ गी० ७॥

उसका परिणाम उसके पुत्र, इष्ट मित्र या समाज का जिसका वह अंग है, मिले। शास्त्रों में कर्म का भोग दो प्रकार का माना है-साक्षात् और पारंपरिक। साक्षाद्भोग कर्त्ता को होता है; और पारंपरिक भोग वह है जिसका भोग कर्ता के पुत्रादि को मिले।

भोगो हि साक्षादिह कर्मणः स्यादेकत्र जन्मन्यखिलस्य नूनम्।
भोगस्तु पारंपरिकः सुतादौ स्फुटस्तदर्थं परजन्मनालम्॥
अनादिजन्मांतर कर्मराशेरनन्तजन्मांतरभोग्यता चेत्।
ज्ञानेपि मुक्तिर्भविता न पुंसामन्यादृशं ज्ञानवशान्न तत्वम्॥

साक्षात् भोग कर्ता को इसी जन्म में मिलता है और पारंपरिक भोग कर्ता के पुत्रादि को उसकी जीवितावस्था या मरने पर होता है। इसके लिये पुनर्जन्म की कल्पना व्यर्थ है। यदि कर्म राशि अनादि काल से जन्म की है और उसका भोग अनंत काल तक जायगा, तो ज्ञान से मुक्ति भी मानना व्यर्थ है। मनु भगवान् कहते हैं—

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु
नत्वेवं तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः।

यदि वह अधर्म का फल नहीं पाता तो उसका पुत्र पाता है। यदि पुत्र भी न पा सका तो उसका पौत्र पाता है, पर करने-वाले का अधर्म निष्फल नहीं जाता। यही दशा धर्म की भी जाननी चाहिए। धर्म का फल भी निष्फल नहीं होता; उसे भी कर्ता या उसका पुत्र या पौत्र या अन्य भोगता है।

वेदांत दर्शन, जो संसार के सारे दर्शनों में श्रेष्ठ माना जाता है, मुक्तकंठ होकर दूसरे सूत्र में यह स्पष्ट रूप से कहता है—जिसमें सब जन्मते हैं और रहते हैं तथा लय को प्राप्त होते हैं, वही ब्रह्म है। और उपनिषद् कहते हैं 'सर्वंखल्विदं ब्रह्मनेहनानास्ति किंचन' अर्थात् यह सर्व कुछ जो है, वह ब्रह्म है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। ब्रह्म सनातन है। उसका उच्छेद कभी नहीं होता। जड़, चेतन, आकाश, ग्रहोपग्रह सब कुछ ब्रह्म हैं। उसे ब्रह्म कहो या प्रकृति, ईश्वर कहो या देवता, वह सब कुछ है। वेदों में कहा है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमा।
तदेव शुक्रस्तद्ब्रह्मतदापस्तत्प्रजापतिः॥

वही अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है, वही चंद्रमा है, वही शुक्र है, उसी का नाम ब्रह्म है, वही जल है, वही प्रजापति है। वह ब्रह्म सर्वात्मा है। न वह जड़ है और न चेतन, न उभयतोभिन्न। संसार के सारे पदार्थ जड़ हों या चेतन, सब उसी नित्य ब्रह्म के अंश हैं। वह सत्य है। उसी में अनेक ब्रह्मांडों से लेकर अणु तक, जड़ से चेतन तक उपजते हैं और उसी में विलीन होते हैं।

अस्मिंश्च सर्वात्मनि चित्समुद्रे।
तडित्तरंगाम्बरपूरपूर्णे॥
छायापथा वर्तिनि भूरितारा।
फेनाञ्चिते प्राणि सहस्रपासे॥

लसद्ग्रहोपग्रहकेतुजात ।
प्रवालजालोपचितांतराले ॥
शश्वद्वहन्तीपरिणामधारा ।
वदेति संसारततीर पारा ॥

इस ब्रह्मरूप समुद्र में छाया पथ, अनेकतारे, सूर्य्य, चंद्र ग्रहोपग्रह, केतु आदि हैं जिनमें अनगिनत प्राणी रहते हैं। यह परिणाम धारा शाश्वत है। यही ब्रह्म है, यही ईश्वर, इसी का दर्शन भगवान् कृष्णचंद्रने अपने भक्त अर्जुन को कराया था। वह ब्रह्म न निर्गुण है न निराकार है। वह आनंदमय है। उसका कोई परिच्छेदक नहीं है। वह प्रत्यक्ष ब्रह्म है। उसी के सामने संसार के समस्त ज्ञानी अपना सिर झुकाते हैं—

सुखमत्र भूमनि चिदंबुनिधौ।
न परिच्छिदावति सुखं परमम् ॥
अनयेन जीवत इहा सुलये।
गणनांग प्रणयिनो न सुखम् ॥
अखिलात्मकोखिलगुणो भगवा—
नखिलाकृतिर्निखिलकामनिधिः ॥
स सदात्मकः खलु चिदम्बुनिधिः।
सुखमप्रमेयमिहसर्वमये ॥

ग्यरहवाँ परिच्छेद

मोक्ष

न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले ।
सर्वाशासंक्षये चेतः क्षयो मोक्ष इति श्रुतिः ॥

छूटने का नाम मोक्ष है। पर प्रश्न यह है कि किससे छूटना? कितने लोग दुःख के छूटने को मोक्ष मानते हैं और कितने आवागमन के छूटने को मोक्ष समझते हैं। अनेक लोग द्वंद्व के छूटने को मोक्ष बतलाते हैं। भगवान् कृष्णचंद्र गीता में कहते हैं—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

अहंकार, हठ, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह को त्याग कर ममता रहित जो शांत है, वही ब्रह्मभय या मोक्ष को प्राप्त होता है। मुक्त पुरुष सदा प्रसन्नात्मा रहता है। वह न किसी वस्तु का सोच करता है और न किसी की इच्छा करता है। वह सब भूतों मे सम भाव रखता है। वही मेरी पराभक्ति को प्राप्त होता है।

समस्त दुःखों का हेतु अहंकार और उससे उत्पन्न होने-वाली आशा है। आशा ही मनुष्य के समस्त दुःखों का कारण है। यही मनुष्य को भले और बुरे कर्मों में प्रवृत्त करनेवाली है। यही मनुष्य के ज्ञान-नेत्रों पर आवरण डालती है। मनुष्य के समदर्शिता प्राप्त करने में यह बड़ी बाधक है। भर्तृहरिजी ने ठीक कहा है—

आशानामनदीमनोरथजला तृष्णातरंगाकुला।
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्य्यद्रुमध्वंसिनी॥
मोहावर्त सुदुस्तरातिगहना प्रोतुङ्गचिंतातटी।
तस्याः पारगताविशुद्धमनसा नंदंति योगीश्वराः॥

आशा एक नदी है जिसमें मनोरथ का जल भरा है और तृष्णा की तरंग उठती हैं। उसमें राग के ग्राह और वितर्क या भ्रम के पक्षी रहते हैं। वह धैर्य्य के वृक्ष को जड़ से काट कर गिराती है। उसमें मोह के आवर्त उठते हैं। उसके किनारे चिंता हैं और बहुत बीहड़ और ऊँचे हैं। यह आशा की नदी बड़ी गहरी और दुस्तर है। इसे कोई कोई विशुद्ध मन पार करते हैं। योगीश्वर उसे पार कर आनंद को प्राप्त होते हैं।

महाभारत में पिंगला की एक आख्यायिका है। इस आख्या-यिका का उल्लेख सांख्यदर्शन में भी है। पिंगला एक वेश्या थी। वह एक दिन सायंकाल ही से शृंगार कर अपने प्रेमी की प्रतीक्षा में बैठी, यह आशा करके कि वह आवेगा। सारी रात वह उसके आने की आशा में पड़ी जागती रही और उसे

नींद न आई। रात बीतने पर उसे ज्ञान हुआ कि आशा ही समस्त दुःखों का कारण है। उसने कहा—

> आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
> आशा निराशा कृत्वाहि सुखं स्वपिति पिंगला॥

आशा सब से बड़ा दुःख और निराशा सर्वोत्कृष्ट सुख है। आशा को निराशा करके पिंगला सुख की नींद सोती है।

यह आशा तब तक नष्ट नहीं होती जब तक कि मनुष्य में अहंकार या ममत्व का लेश मात्र रह जाता है। इसलिये यदि तुम आशा का नाश करना चाहते हो, तो सब से पहले अहंभाव का त्याग करो; आशा आप से आप नष्ट हो जायगी। कितने लोग कर्म के त्याग से भ्रमवश आशा के नाश का हेतु मानते और अनेक कष्टों को सहते हुए निर्जीव पत्थर या लकड़ी के कुंदे के समान पड़ा रहना अपना परम कर्त्तव्य मानते हैं। यह उनकी भूल है। कर्म के त्यागने मात्र से कोई पुरुष आशा से निवृत्त नहीं हो सकता। भगवान ने गीता में कहा है—

> न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
> नच संन्यासनादेवसिद्धिं समधिगच्छति॥
> नहि कश्चित्क्षणमपिजातुतिष्ठत्यकर्मकृत्।
> कार्य्यंत ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
> कर्मेंद्रियाणिसंयम्य य आस्ते मनसास्मरन्।
> इंद्रियार्थं विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः सउच्यते॥

केवल कर्म आरंभ न करने से मनुष्य कर्म करने

से नहीं बच सकता और नैष्कर्म्य भाव को प्राप्त नहीं होता। केवल संन्यास या कर्म के त्याग से काम नहीं चलता। मनुष्य बिना कुछ किए एक क्षण भी नहीं रह सकता। प्रकृति के गुणों से विवश होकर सब लोगों को कर्म करना पड़ता है। जो मनुष्य कर्मेंद्रियों को दबाकर मन से विषयों का चिंतन करता है, वह पागल है; उसे पाखंडी कहते हैं।

इसलिये कर्म के त्याग मात्र से आशा या अहंकार की निवृत्ति होना असंभव है। केवल अहंकार के त्याग से ही आशा की निवृत्ति होती है। जब तक मनुष्य में यह मेरा यह पराया हैं, यह मेरा मित्र यह मेरा शत्रु है, इससे मुझे लाभ होगा इससे हानि है, इत्यादि भाव बने रहते हैं, तब तक मनुष्य, चाहे कुछ करे अथवा न करे, अहंकार से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये मनुष्य को उचित है कि अपनी सत्ता को विश्व या ब्रह्म की सत्ता में मिला दे और अहंभाव को भूल जाय। अहंभाव के नष्ट होते ही उसमें ब्रह्म भाव का उदय होगा और वह अपनी सत्ता त्याग ब्रह्ममय हो जायगा। उसे अपने भीतर बाहर, आगे पीछे, ऊपर नीचे, चारो ओर भगवान् की ही सत्ता देख पड़ेगी। वह विवश होकर कह उठेगा—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तुते सर्वत एव सर्व।
अनंतवीर्यामितविक्रमस्ते
सर्वं समाप्नोषि ततोसि सर्वः॥

भगवान् आपको नमस्कार है। आपही आगे, आपही पीछे और आपही सब दिशाओं मे व्याप्त हैं। आपही सब कुछ हैं। आप की सामर्थ्य और पराक्रम अनंत है। आप सब में व्याप्त हैं और आप ही सब रूपों में सब ओर फैले हैं।

धन्य हैं ऐसे पुरुष जिनका अहंकार नष्ट हो गया और जिनमें सकलात्म भाव का उदय हो गया है; जिनकी आशा नष्ट हो गई है। ऐसे लोग ब्रह्मभूत जीवनमुक्त हैं। संसार में उन्हें अपने लिये कुछ करना शेष नहीं रह गया है। ऐसे लोग जो कुछ करते हैं, संसार के उपकार के लिये करते हैं। भगवान् ने गीता में कहा है—

कायेन मनसा बुध्या केवलैरिंद्रियैरपि।
योगिनः कर्मकुर्वन्ति संगंत्यक्त्वात्मशुद्धये॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगंत्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

योगीगण वासना को त्याग कर आत्मशुद्धि के लिये कहीं शरीर से, कहीं मन से, कहीं बुद्धि से और कही केवल इंद्रियों से कर्म करते हैं। जो लोग कर्म के फल की इच्छा या वासना को त्याग ब्रह्म को अर्पण करके कर्म्म करते हैं, जैसे कमल का पत्ता पानी में रहता है फिर भी उसमें पानी नहीं लगता, वैसे उनमें पाप का लेश नहीं लगता।

ऐसे ही लोग सच्चे जीवन्मुक्त हैं। मरने पर तो सब की आशा और अहंकार नष्ट हो जाते हैं; पर ऐसे बिरले ही पुरुष-

रल हैं जो जीते जी अपनी आशा को त्याग दें और अपने ममत्व का नाश कर दें। उनको किसी प्रकार की इच्छा अवशेष नहीं रह जाती। न वे सुख की इच्छा रखते हैं और न दुःख से बचना चाहते हैं। उन्हें कोई काम अपने लिये करना नहीं रहता। वे सब कुछ परोपकार के लिये और संसार की भलाई के लिये करते हैं। वे न स्वर्ग की इच्छा करते हैं और न नरक से डरते हैं। वे अपना कर्तव्य आजीवन पालन करते हैं—

ज्ञानामृतक्षालितचेतसां तु
पर्य्याप्तमायुर्महतामिहत्यम्।
नेच्छंति नाकाम्बरवारिजातं
त्रस्यंति नो वा निरयात्पिशाचात्॥

बारहवाँ परिच्छेद

आनंद

स्वर्गादिचिंतारहितस्तदित्थंविज्ञानवुद्ध्याजगतः शिवाय।
ज्ञानेन भक्त्या च विशुद्धचित्तः सत्कर्मकुर्वीत सदैव साधुः॥

संसार में लोग आनंद और सुख को एक मानते हैं; और बोलचाल में आनंद और सुख दोनों शब्द समानार्थक माने जाते हैं; पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। सुख दुख का प्रतिद्वन्द्वी है। जहाँ सुख है वहाँ दुःख भी है; अथवा यों कह सकते हैं कि सुख के नाश में दुःख और दुःख के नाश में सुख होता है। सुख और दुःख दोनों रात और दिन के समान एक दूसरे के विपरीत भाव हैं। यद्यपि ये दोनों चित्त की वृत्तियों में उत्पन्न होते हैं और एक प्रकार से मानसिक धर्म कहे जा सकते हैं, पर इनकी उत्पत्ति या विकास बाह्य कारणों से होता है जिनका प्रभाव हमारी इंद्रियों और अंतःकरण पर पड़ता है। फिर भी ये दोनों चित्त में क्षोभ उत्पन्न करनेवाले और शांति में भंग डालनेवाले हैं। आनंद इसके विरुद्ध चित्त में शांति उत्पन्न करनेवाला और केवल मानसिक है। इसका कोई प्रतिद्वंद्वी भाव नहीं है। इसकी उद्भावना उस समय होती है जब सुख और दुःख दोनों का तिरोभाव हो जाता है। जब

तक मनुष्य में अहंभाव रहता है और वह द्वैत के बंधन से जकड़ा रहता है, उसे आनंद नहीं प्राप्त होता। सच्चे आनंद का लाभ मनुष्य को तभी होता है जब वह द्वैत भाव से निर्मुक्त हो जाता है और उसमें सर्वात्मभाव का उदय होता है। कहा है—

यस्मि सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।

मोक्ष का अनुपम सुख आनंद है। यह आनंद उस समय प्राप्त होता है जब जीवन्मुक्त का चित्त ममत्व के नाश से अविचल स्वच्छ सरोवर के जल की भाँति प्रशांत हो जाता है। यहाँ आनंद चित्त को क्षुब्ध करने की जगह उसे और अधिक निर्मल और स्वच्छ बना देता है। वह शांत चित्त से लाभालाभ, सुख दुःख से अविचलित मनस्क हो संसार के हित के लिये अविश्रांत कर्म करता है। संसार में उसका न कोई मित्र है और न कोई शत्रु, किंतु वह सबको अपना ही जानता है; उसमें भेद भाव नहीं रहता। वह दूसरों का हित करने ही में आनंद मानता है।

यह आनंद वाणी का विषय नहीं है और न ऐसा है कि इसका अनुभव बाह्येंद्रियों से हो सकता हो, किंतु इसका अनुभव कुछ वही पुरुष कर सकता है जिसे यह प्राप्त होता है। तैत्तिरीय आरण्यकोपनिषद् में इस ब्रह्मानंद को तुलना से समझाने का प्रयत्न किया गया है, पर उससे आनंद की मात्रा का यथावत् बोध नहीं होता। उपनिषदों में कहा है—

समाधि निर्धूत मलस्य चेतसां
निवेशितस्यात्मनियत्सुखं भवेत्।
न शक्यतेवर्णतुंगिरायाः
स्वयंतदंतःकरणेन गृह्यते ॥

जिसके चित्त का मल समाधि या चित्त की अविचल वृत्ति से नष्ट हो गया है और जो आत्मसंस्थ हो गया है, उसे जो सुख प्राप्त होता है वह वाणी से वर्णन नहीं हो सकता; उसका अंतःकरण से ही ग्रहण हो सकता है।

संसार में जिस प्रकार मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार ब्रह्मानंद भी सर्वोत्कृष्ट अलौकिक सुख है। मनुष्य के पुरुषार्थ का यही अलौकिक फल है जो सच्चे मुमुक्षु को प्राप्त होता है। यह आनंद किसी धर्म या जाति विशेष के ही लिये नहीं है और न यह किसी देश और काल ही के लिये है। मुमुक्षु सदा सभी देश, काल, जाति और धर्म में हुए हैं, होते हैं और हो सकते हैं। मनुष्य जीवन का यही एक मात्र उद्देश्य है। यही मनुष्य के पुरुषार्थ का अनन्य फल है। इसके अधिकारी मनुष्यमात्र हैं। किसी धर्म और संप्रदाय में रहता हुआ मनुष्य मोक्ष लाभ कर सकता और उसके सर्वोत्कृष्ट फल ब्रह्मानंद को पा सकता है। इसके लिये भगवे वस्त्र धारण करने की आवश्यकता नहीं है और न घर बार त्यागने की। जिसमें द्वैत भाव बना है और जिसने अहंकार नहीं छोड़ा, वह भगवा पहन कर और गृह त्याग कर क्या कर सकता है।

कहते हैं कि जगद्गुरु भगवान् शंकराचार्य्य काशी की गलियों से होकर जा रहे थे। मार्ग में चमारी झाड़ू दे रही थी। भगवान् ने उसे अस्पृश्य जाति का समझ ठहरकर किनारे होने को कहा। चमारी थी वाक्पटु। उसने कहा, महाराज, सिर मुड़ाने पर भी भेद भाव घना ही है? शंकराचार्य्यजी के ऊपर उसकी इस स्पष्ट वादिता का इतना प्रभाव पड़ा कि वे उसके चरणों पर गिर पड़े और भेदवाद को सदा के लिये तिलांजलि दे दी।

ब्रह्मानंद के लिये सब से अधिक और आवश्यक साधन ममत्व का नाश करना है। मिट्टी का डला जब तक नष्ट होकर यात्रियों के पैरों के तले पड़कर धूलि नहीं बनता, तब तक आकाश में नहीं पहुँच सकता। इसलिये उचित है कि सबसे पहले मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर ज्ञानाग्नि से अपने अंतःकरण के संचित मल को शुद्ध कर प्रयत्नपूर्वक ममत्व का नाश कर मोक्ष लाभ करे। द्वैत के नाश होने ही से उसे आनंद की झलक दिखलाई पड़ने लगेगी। ऐसे समय उसे कर्मत्याग कर पुरुषार्थ-शून्य न होना चाहिए। वैराग्याभास के फंदे में पड़ उसे भिक्षान्न के लिये न दौड़ना चाहिए, किंतु उसे भगवान के इस वचन को बार बार स्मरण करते हुए कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

तुझे केवल कर्म करने का अधिकार है, फल में तेरा कोई अधिकार नहीं है। तू कर्म फल का हेतु मत हो और न अकर्मण्य बनने की लत डाल।

संसार के बड़े बड़े कामों को सिवा ब्रह्मानंदी पुरुषों के दूसरे नहीं कर सकते। बड़ी बड़ी अड़चनों को सिवा भगवज्जनों को दूसरे नहीं पार कर सकते। बड़े बड़े प्रलोभनों में फँस कर लोग स्वयं अपने कार्य्य का नाश कर देते हैं और अपनी कीर्ति पर कलंक लगाते हैं। देश के नेताओं और बड़ी बड़ी सार्वजनिक संस्थाओं के अवैतनिक कार्य्यकर्त्ताओं, पहले अपने ममत्व का नाश करो; आत्मोत्सर्ग कर ब्रह्मभूत हो; तभी तुम उस पवित्र यज्ञ वेदी पर ठहर सकोगे। यदि तुम ऐसा नहीं कर सकते तो सद्भाव से यह कह दो कि मैं इस पवित्र स्थान पर पाँव रखने के योग्य नहीं हूँ। केवल अधिकार यश, कीर्ति और मान के लोभ से देवताओं के पवित्र सिंहासन को कलुषित मत करो। यह पवित्र स्थान ऐसे जीवन्मुक्त के योग्य है जो हानि लाभ, जीवनमरण, यश अपयश, सुख दुःखादि द्वन्द्वों को तृणवत् समझता हो। ऐसा पुरुषरत्न मनुष्य-समाज तथा सारे संसार का हित साधन कर सकता है। उस प्रशांत चित्तयोगी के मन को रुए या आनुश्राविक कोई सुख या दुःख क्षुब्ध नहीं कर सकता। गीता में भगवान ने कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

नचतस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता नचमेतस्यादन्यः प्रियतरोभुवि ॥

॥ इति ॥

मनोरंजन पुस्तकमाला

अपने ढंग की यह एक ही पुस्तकमाला प्रकाशित हुई है जिसमें नाटक, उपन्यास, काव्य, विज्ञान, इतिहास, जीवन-चरित आदि सभी विषयों की पुस्तकें हैं। यों तो हिंदी में नित्य ही अनेक ग्रंथ-मालाएँ और पुस्तक-मालाएँ निकल रही हैं, पर मनोरंजन पुस्तकमाला का ढंग सब से न्यारा है। एक ही आकार प्रकार की और एक ही मूल्य में इस पुस्तकमाला की सब पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। इसकी अनेक पुस्तकें कोर्स और प्राइज बुक में रक्खी गई हैं; और नित्य प्रति इनकी माँग बढ़ती जा रही है। कई पुस्तकों के दो दो, तीन तीन संस्करण हो गए हैं। इसकी सभी पुस्तकें योग्य विद्वानों द्वारा लिखवाई जाती हैं। पुस्तकों की पृष्ठ-संख्या २५० ३०० और कभी कभी इससे भी अधिक होती है। ऊपर से बढ़िया जिल्द भी बँधी होती है। आवश्यकतानुसार चित्र भी दिए जाते हैं। इन पुस्तको में से प्रत्येक का मूल्य १।) है; पर स्थायी ग्राहकों से ॥।) लिया जाता है जो पुस्तकों की उपयोगिता और पृष्ठ संख्या आदि देखते हुए बहुत ही कम है। आशा है, हिंदी-प्रेमी इस पुस्तमाला को अवश्य अपनावेंगे और स्थायी ग्राहकों में नाम लिखावेंगे। अब तक इसमें भिन्न भिन्न विषयों पर ४४ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनकी सूची इस प्रकार है—

मनोरंजन पुस्तकमाला

अब तक निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

(१) आदर्श जीवन—लेखक रामचंद्र शुक्ल ।
(२) आत्मोद्धार—लेखक रामचंद्र वर्म्मा ।
(३) गुरु गोविंदसिंह—लेखक बेणीप्रसाद ।
(४, ५, ६) आदर्श हिंदू, तीन भाग—लेखक मेहता लज्जाराम शर्म्मा ।
(७) राणा जंगबहादुर—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा ।
(८) भीष्म पितामह—लेखक चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा ।
(९) जीवन के आनंद—लेखक गणपत जानकीराम दुबे ।
(१०) भौतिक विज्ञान—लेखक संपूर्णानंद बी० एस-सी० ।
(११) लालचीन—लेखक ब्रजनंदनसहाय ।
(१२) कबीर वचनावली—संग्रहकर्त्ता अयोध्यासिंह उपाध्याय ।
(१३) महादेव गोविंद रानडे—लेखक रामनारायण मिश्र बी० ए० ।
(१४) बुद्धदेव—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा ।
(१५) मितव्यय—लेखक रामचंद्र वर्म्मा ।
(१६) सिक्खों का उत्थान और पतन—लेखक नंदकुमारदेव शर्म्मा ।
(१७) वीरमणि—लेखक श्यामबिहारी मिश्र एम० ए० और शुकदेव-
बिहारी मिश्र बी० ए० ।
(१८) नेपोलियन बोनापार्ट—लेखक राधामोहन गोकुलजी ।
(१९) शासनपद्धति—लेखक प्राणनाथ विद्यालंकार ।
(२०, २१) हिंदुस्तान, दो खंड—लेखक दयाचंद्र गोयलीय बी० ए० ।
(२२) महर्षि सुकरात—लेखक बेणीप्रसाद ।
(२३) ज्योतिर्विनोद—लेखक संपूर्णानंद बी० एस-सी०
(२४) आत्मशिक्षण—लेखक श्यामबिहारी मिश्र एम० ए० और पं०
शुकदेव बिहारी मिश्र बी० ए० ।
(२५) सुंदरसार—संग्रहकर्त्ता पुरोहित हरिनारायण शर्म्मा बी० ए० ।

सूचना

मनोरंजन पुस्तकमाला की मूल्य-वृद्धि

जिस समय सभा ने मनोरंजन पुस्तकमाला प्रकाशित करना आरम्भ किया था, उस समय प्रतिज्ञा की थी कि इसकी सब पुस्तकें २०० पृष्ठों की होंगी। पर, जैसा कि इसके ग्राहकों और साधारण पाठकों को भली भाँति विदित है, इस पुस्तकमाला की अधिकांश पुस्तकें प्रायः २५० पृष्ठों की और बहुत सी ३०० अथवा इससे भी अधिक पृष्ठों की हुई हैं। यही कारण है कि सभा को १२ वर्षों तक इस पुस्तकमाला का संचालन करने पर भी कोई आर्थिक लाभ नहीं हुआ। भविष्य में भी सभा इस माला से कोई लाभ तो नहीं उठाना चाहती, पर वह इस माला में अनेक सुधार करना चाहती है। सभा का विचार है कि भविष्य में जहाँ तक हो सके, इस माला में प्रायः २५० या इससे अधिक पृष्ठों की पुस्तकें ही निकला करें और इसकी जिल्द आदि में भी सुधार हो। अतः सभा ने निश्चय किया है कि इस माला की अब तक की प्रकाशित सभी पुस्तकों का मूल्य १) से बढ़ा कर १।) कर दिया जाय। पर यह वृद्धि केवल फुटकर बिक्री में होगी। माला के स्थायी ग्राहकों से इस माला की सब पुस्तकों का मूल्य अभी कम से कम ५० वीं संख्या तक ।।।) ही लिया जायगा।

प्रकाशन मंत्री,

नागरीप्रचारिणी सभा,

काशी।

सूर्यकुमारी पुस्तकमाला

शाहपुरा के श्रीमान् महाराज कुमार उम्मेदसिंह की स्वर्गीया धर्मपत्नी श्रीमती महाराज कुँवरानी श्री सूर्य्यकुमारी के स्मारक में यह पुस्तकमाला निकाली गई है। हिंदी में अपने ढंग की एक ही पुस्तकमाला है। इस माला की सभी पुस्तकें बहुत बढ़िया मोटे एंटीक कागज पर बहुत सुन्दर अक्षरों में छपती हैं और ऊपर बहुत बढ़िया रेशमी सुनहरी जिल्द रहती है। पुस्तकमाला की सभी पुस्तकें बहुत ही उत्तम और उच्च कोटि की होती हैं और प्रतिष्ठित तथा सुयोग्य लेखकों से लिखाई जाती हैं। यह पुस्तकमाला विशेष रूप से हिंदी का प्रचार करने तथा उसके भांडार को उत्तमोत्तम ग्रंथ-रत्नों से भरने के उद्देश्य और विचार से निकाली गई है; और पुस्तकों का अधिक से अधिक प्रचार करने के उद्देश्य से दाता महाशय ने यह नियम कर दिया है कि किसी पुस्तक का मूल्य उसकी लागत के दूने से अधिक न रक्खा जाय; इसी कारण इस माला की सभी पुस्तकें अपेक्षाकृत बहुत अधिक सस्ती भी होती हैं। हिंदी के प्रेमियों, सहायकों और सच्चे शुभचिन्तकों को इस माला के ग्राहकों में नाम लिखा लेना चाहिए।

प्रकाशन मंत्री,
नागरीप्रचारिणी सभा,
काशी।

जायसी ग्रंथावली

सम्पादक—श्रीयुत पं० रामचंद्र शुक्ल

कविवर मलिक मुहम्मद जायसी का लिखा हुआ "पद्मावत" हिंदी के सर्वोत्तम प्रबंध काव्यों में है। ठेठ अवधी भाषा के माधुर्य्य और भावों की गंभीरता के विचार से यह काव्य बहुत ही उच्च कोटि का है। पर एक तो इसकी भाषा पुरानी अवधी, दूसरे भाव गंभीर, और तीसरे आजकल बाजार में इसका कोई शुद्ध सुन्दर संस्करण नहीं मिलता था; इससे इसका पठन-पाठन अब तक बंद सा था। पर अब सभा ने इसका बहुत सुन्दर और शुद्ध संस्करण प्रकाशित किया है और प्रति पृष्ठ में कठिन शब्दों के अर्थ तथा दूसरे आवश्यक विवरण दे दिए हैं, जिससे यह काव्य साधारण विद्यार्थियों तक के समझने योग्य हो गया है। पुस्तक का पाठ बहुत परिश्रम से शुद्ध किया गया है। आरंभ में इसके सुयोग्य सम्पादक और सिद्धहस्त समालोचक ने प्रायः ढाई सौ पृष्ठों की इसकी मार्मिक आलोचना कर दी है, जिसके कारण सोने में सुगंध भी आ गई है। अंत में जायसी का अखरावट नामक काव्य भी दिया गया है। बड़े आकार के प्रायः ७०० पृष्ठों की जिल्द बँधी पुस्तक का मूल्य केवल ३) है।

प्रकाशन मंत्री,
नागरीप्रचारिणी सभा,
काशी।

तुलसी ग्रंथावली

तीन खंडों में

संवत् १९८० में परम पूज्य गोस्वामी श्रीतुलसीदास जी की त्रिशत वार्षिक जयन्ती के समय सभा ने गोस्वामी जी के समस्त ग्रंथों का यह उत्तम, शुद्ध, संशोधित और प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया था। इसमें गोस्वामी जी के सभी ग्रंथ आ गए हैं, जिनका पाठ वर्षों के कठिन परिश्रम से और बहुत खोज तथा छानबीन के साथ शुद्ध किया गया है। यह तीन खंडों में विभक्त है। पहले खंड में रामचरित मानस और गोस्वामी जी का चित्र; दूसरे खंड में रामलला नहछू, वैराग्य संदीपनी, बरवै रामायण, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, रामाज्ञा-प्रश्न, दोहावली, कवितावली, गीतावली, श्रीकृष्ण गीतावली और विनय पत्रिका, तथा तीसरे खंड में गोस्वामी तुलसीदास जी के संबंध के लेख, उनकी जीवनी तथा उनके ग्रंथों की विस्तृत और गवेषणापूर्ण आलोचना है। तीनों खंडों में सब मिलाकर बड़े साइज के प्रायः १६०० से ऊपर पृष्ठ हैं। बढ़िया कपड़े की जिल्द बँधी है। प्रत्येक खंड का मूल्य २॥) है। पर जो लोग तीनों खंड एक साथ लेते हैं, उनसे सब का मूल्य केवल ६) लिया जाता है।

प्रकाशन मंत्री,

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

प्रेमसागर

नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला की २७ वीं पुस्तक

हिंदी गद्य साहित्य में प्रेमसागर प्रसिद्ध ग्रंथ है और इसके अनेक संस्करण बाजारों में मिलते हैं। परंतु उनमें संशोधित और संस्कृत शब्दों की भरमार रहती है और वे लल्लूलाल जी के लिखे हुए मूल प्रेमसागर से बहुत कुछ भिन्न होते हैं। यह संस्करण सं० १८१० ई० की छपी प्रति के आधार पर तैयार किया गया है, जिसे ग्रंथकर्त्ता ने स्वयं अपने संस्कृत प्रेस, कलकत्ते में छपाया था। सन् १८४२ की छपी एक दूसर प्रति से इसके संपादन में सहायता ली गई है। इन दोनों प्रतियों में जहाँ कहीं कोई पाठांतर है, वह भी फुट नोट में दे दिया गया है। इसकी भूमिका में लल्लूलाल जी का जीवन-चरित्र और हिंदी गद्य साहित्य का इतिहास भी दिया गया है जो पुस्तक का सौंदर्य बढ़ाने में विशेश सहायक हुआ है। कृष्ण कथा होने के कारण हिंदी के प्रत्येक प्रेमी और भगवद्भक्त को यह ग्रंथ अपने घर में रखना चाहिए। साहित्य और भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रंथ बहुत ही उपयोगी है; इसलिये साहित्य प्रेमियों को भी इसका संग्रह अवश्य करना चाहिए। सुंदर चिकने कागज पर और मजबूत जिल्द सहित; पृष्ठ-संख्या साढ़े चार सौ के लगभग। मूल्य केवल २)

प्रकाशन मंत्री,

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

हिंदी शब्दसागर

संपादक—श्रीयुक्त बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए०

इस प्रकार का सर्वांगपूर्ण कोश अभी तक किसी देशी भाषा में नहीं निकला है। इसमें सब प्रकार के शब्दों का संग्रह है। इसमें आपको दर्शन, ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीत, कला-कौशल इत्यादि के पारिभाषिक शब्द पूर्ण और स्पष्ट व्याख्या के सहित मिलेंगे। और और कोशों के समान इसमें अर्थ के स्थान पर केवल पर्य्याय माला नहीं दी गई है। प्रत्येक शब्द का क्या भाव है, यह अच्छी तरह समझाकर तब पर्याय रक्खे गए हैं। प्रत्येक शब्द के जितने अर्थ होते हैं, वे सब अलग अलग मुहावरों और क्रिया प्रयोगों आदि के सहित मिलेंगे। जिन प्राचीन शब्दों के कारण पुराने कवियों के ग्रंथ रत्न समझ में नहीं आते थे, उनके अर्थ भी इसमें मिलेंगे। इस बृहत्कोश के तैयार करने में भारत सरकार और देशी राज्यों से सहायता मिली है। प्रत्येक पुस्तकालय, विद्यालय और शिक्षा-प्रेमी के पास इसकी एक प्रति अवश्य रहनी चाहिए। हिंदी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के विद्वानों ने भी इस कोश की बहुत अधिक प्रशंसा की है। अब तक इसके ३४ अंक छप चुके हैं। प्रत्येक अंक ९६ पृष्ठ का होता है और उसका मूल्य १) है। पहले से लेकर तीसवें अंक तक ६, ६ अंक एक साथ सिले हुए मिलते हैं, अलग अलग नहीं मिलते।

प्रकाशन मंत्री,

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अब नागरीप्रचारिणी पत्रिका त्रैमासिक निकलती है और इसमें प्राचीन शोध संबंधी बहुत ही उत्तम, विचारपूर्ण तथा गवेषणात्मक मौलिक लेख रहते हैं। पुरातत्व के सुप्रसिद्ध विद्वान् राय बहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा इसका सम्पादन करते हैं। ऐसी पत्रिका भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं में अभी तक नहीं निकली है। यदि भारतवर्षीय विद्वानों के गवेषणापूर्ण लेखों को, जिनसे भारतवर्ष के प्राचीन गौरव और महत्वपूर्ण ऐतिहासिक बातों का पता चलता है, आप देखना चाहें तो इस पत्रिका के ग्राहक हो जाइए। वार्षिक मूल्य १०) प्रति अंक का मूल्य २॥) है। परंतु जो लोग ३) वार्षिक चंदा देकर नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के सभासद हो जाते हैं, उन्हें यह पत्रिका विना मूल्य मिलती है। इस रूप में यह पत्रिका संवत् १९७७ से प्रकाशित होने लगी है। पिछले किसी संवत् के चारों अंकों की जिल्द-बँधी प्रति का मूल्य ५) है।

हमारे पास स्टाक में नागरीप्रचारिणी पत्रिका के पुराने संस्करण की कुछ फाइलें भी हैं। सभा के जो सभासद या हिंदी प्रेमी लेना चाहें, शीघ्र मँगा लें; क्योंकि बहुत थोड़ी कापियाँ रह गई हैं। मूल्य प्रति वर्ष की फाइल का १) है।

प्रकाशन मंत्री,

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।